किरण-वीणा

श्री सुमित्रानंदन पंत

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

किरण-वीणा

प्रथम संस्करण १९६७

मूल्य ८.००

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली ६

मुद्रक
नवीन प्रेस,
दिल्ली ६

स्नेही बंधु
स्व० पुराणी जी की
स्मृति को—
सस्नेह

विज्ञापन

'किरण वीणा' में मेरी नवीनतम रचनाएँ संगृहीत हैं, जिनमें अधिकांश सन् १६६६ में लिखी गई हैं। इन रचनाओं के विषयों में पर्याप्त वैचित्र्य है, जिसका कि पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। "वाणी" की 'आत्मिका' की तरह ही इस संग्रह के अंत में 'पुरुषोत्तम राम' शीर्षक कविता में मेरी आत्म-कथा की भी रूपरेखा आ गई है। 'आत्मिका' की कथावस्तु मुख्यतः मन तथा जीवन के धरातल की है, प्रस्तुत रचना इनके अतिरिक्त मेरी चेतनात्मक अनुभूतियों से भी सम्बन्ध रखती है।

अपनी अस्वस्थता के बाद पाठकों के सामने यह संग्रह प्रस्तुत करने में मुझे प्रसन्नता होती है।

—सुमित्रानंदन पंत

१८/बी० ७, के० जी० मार्ग
इलाहाबाद
१ दिसम्बर, १९६६

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	७	आराहों	आरोहों
३८	३	सतने	सनने
४३	१२	किसको	किसकी
७०	१०	—नीड़	-नीड़
८३	१६	दंभ ?	दंभ,
१११	१३	मन से	तन से
११५	५	मोह—पगली	मोह-पगली
१२४	३	सन्देश	सँदेश
१७०	११	का	को
१८६	१	ऐसा	ऐसी
१८६	४	घेरा	घेरे
२१७	२२	हत्या है	हत्या !
२१८	१४	जन	गण
२२०	२०	पू—	पूय-
२२०	२२	राँदती	रौंदती

क्रम

मैं हूँ केवल
एक तृण-किरण,
जिसको मानव के पग धर
चलना धरती पर !

मेरे नीचे
पड़ा अडिग पर्वताकार शव—
पथराया केंचुल अतीत का !…
मुझको क्या उसमें नव जीवन डाल
जगाना है जड़ शव को ?

नहीं,—मुझे उर्वर भू रज से
नया मनुज गढ़ना अब,—
उसमें फूँक
स्वर्ग की साँस
अगोचर !

मृत को पुनः जिलाना
घातक होगा दारुण,—

नया मनुज
किरणों के कर से
खोले नया हृदय-वातायन !—
मैं हूँ केवल एक तृण-किरण !

किरण वीणा

किरणो की वीणा मे—
सूर्य चन्द्र तूबे दिग्-उज्वल—
स्मेरमुखी ऊषाएँ हँस हँस
गाती रहती प्रतिपल।

यह मेरी रस मानस तन्त्री,
साँसो के तारो मे नीरव
आत्मा का सगीत भुवन अब
जन्म ले रहा अभिनव।

अतर्मुख सौरभ मे बस कर
बहता चेतस का माणिक जल,
खिलते अश्रुत गीतो के पद
श्वेत पीत सरसिज दल।

स्वर्ग धेनुएँ पूँछ उठा कर
रँभा रहीं सुन मर्म मौन स्वर,
अंत: सलिला स्वर्गगा के
तीर विचर रस कातर !

किस पावक का लोक अगोचर
उतर रहा प्राणों के भीतर—
नया कल्प अब उदित हो रहा
तम का मुख कर भास्वर !

कौन देव करते आवाहन
चन्द्र चेतना की अंजलि भर—
दुग्ध धार सी ज्योति बरसती
नव छन्दों में झर-झर !
—किरणों की वीणा में !

तुम कौन ?

चन्द्र किरण किरीटिनी,
तुम कौन आती
मौन स्वप्न सजग चरण धर ?
हृदय के एकांत शांत
स्फटिक क्षणों को
स्वर्ग के संगीत से भर !

मचल उठता ज्वार
शोभा सिंधु में जग,
नाचता आनंद पागल
भाव-लहरों पर
थिरकते प्रेरणा पग !
इंद्र धनुष मरीचि दीपित
चेतना के मर्म में
खुलता गवाक्ष
रहस्य भास्वर !

अमर वीणाएँ निरंतर
गूँज उठतीं, गूँज उठतीं
स्वप्न निःस्वर—
तारकों का हो खुला
अनिमेष अंबर !

मर्त्य से उठ स्वर्ग तक
प्रासाद जीवन का अनश्वर
रूप के भरता दिगंतर !

चंद्र किरण किरीटिनी,
तुम कौन आती
मौन स्वप्न-सुघर चरण धर !

नवोन्मेष

फिर किशोर क्वारे स्वप्नो का
कचनारी सौन्दय बरसता—
दिड् मुकुलित कर अतर !

किस वसत के सूर्य स्पश से
दहक उठा फिर प्राणा का वन,
अनिर्वाप्य इच्छा का पावक
सोया था आत्मा म गोपन,—
उमड सिन्धु-आनद लोटता
जीवन के चरणा पर !

कौन शक्ति यह मेरे भीतर
शखो की सी नादित पर्वत
लोक जागरण की वेला म
घोषित करती जीवन अभिमत ?

लो, इद्रिय माणिक मदिर का
खुला स्वर्ग तक स्फाटिक तोरण,
आते जाते देवदूत शत
अतर मे भर हीरक स्पदन !

प्राणों के मरकत प्रांगण पर
विचरण करता शाश्वत निःस्वर—
जन्म ले रहा नया मनुज अब
तरुण अरुण,—भू-निशि दीपित कर!

फिर किशोर क्वारे पावक का
कचनारी ऐश्वर्य बरसता
ज्वाला से भर अंतर !

सूर्योदय

फालसई तूली से किरणें
नव शोभा की स्वरलिपि लिखतीं
जीवन के आँगन पर !

भू-यौवन के पावक घट सा
उठता सूर्य शून्य दिशि उर भर,
उतर रहे चपक जघनों मे
नव प्रकाश के स्वर्णिम निर्झर !
यह अनत यौवना प्रकृति
भव-निशि विषाद लेती हर !

सरिता वीणाओं सी गाती
रजत वह्नि मे लहर न्हाती,
चपल, मुखर, भगुर-गति जल मे
सोया नील शांति सा नि स्वर !

यह विराट् सुख का रगस्थल
शाश्वत मुख पर क्षण का अचल,
सृष्टि नित्य नव स्वर-सगति मे
बढ़ती सुदर से सुदरतर !

खोलो हे मन का तृण-पिंजर
त्वच सीमा से निकलो बाहर,
भू-रज भुजग, विहंग बनो उठ,
पंख शून्य में फैला भास्वर !

फालसई तूली से किरणें
श्री शोभा की स्वरलिपि रचतीं
प्राणों के प्रांगण पर !

देव श्रेणी

नयी देव श्रेणी को
जन्म दे गया, लो, मैं
नव मूल्यों में नए प्राण भर,
रश्मि किरीटी हिम शिखरों-सी
उठती जो तिर जीवन सागर!

कर्दम में डूबे
युग के आकंठ मनुज को
नव विकास पथ पर स्थापित कर,
मिटा गया इतिहास तमस
चैतन्य लोक दिखला
दिग् भास्वर!

एक सूर्य अब अस्त हुआ
मानव आत्मा में—
बिखर रहा चैतसिक धूम
बन घन तारावर,
अरुणोदय होने को उर में
एक ज्योति झुक रही
क्षितिज से
मानव भू पर!

किसको छूने
हाथ बढ़ाता
बौना व्यक्ति
उठा भू से पग ?
चंद्र खिलौना व्यर्थ—
सदय नव सूर्य स्वयं जब
उदय हो रहा उर के भीतर !

अंतः समता ही की क्षमता
ला पाएगी
बाह्य लोक समता
बहु भेद भरी जन भू पर;
नयी एकता में बँधने को
अब भू मानव
अतिक्रम कर युग-युग के अंतर !

नयी देव श्रेणी को
जन्म दिया तप मैंने
नव मूल्यों में
उर-स्पंदन भर !
देव मनुज पशु
नया मनुज बन जीएँगे जब,
सब होगा चरितार्थ
धरा पर जीवन ईश्वर !

प्रेरणा

कौन अनछुआ तार बज उठा
    अनजाने इस बार,
फूट पडी झकार,
    हृदय मे स्वर्ण शुभ्र झकार !

भाव गिरा यह सूक्ष्म अगोचर,
या चेतना किरण-क्षण निःस्वर,
तन्मय होता अतरग
    तिर शोभा पारावार !

खुलते क्षितिज
    क्षितिज पर भास्वर,
पार शिखर स्वर,
    पार दिगतर,
आत्मा के हीरक प्रकाश से
    होता साक्षात्कार !

देह प्राण मन के जड बधन
स्वत खुल गए सुन माणिक-स्वन,
जगत् नही, मैं नही,
प्रेम-रूप मे
    ईश्वर साकार !

संवेदन

वह शुभ्र स्वर्ण की सूक्ष्म डोर
जिस पर चढ़ता मेरा अंतर
उस रजत अनिल के अंबर में—
रस गीत जहाँ पड़ते झर-झर !

द्राक्षा वैसी न मधुर मादक,
मधुमय क्या वैसे सुधा-अधर ?
प्राणों में वह झंकार नहीं
उन गीतों में जो मोहित स्वर !

वह कौन लता, किस अंबर में ?
चिन्मूल सभी के उर भीतर,
सौन्दर्य प्रवालों में पुलकित—
सित सुरभि हृदय में जाती भर !

वह कौन मेघ, रस शुभ्र हरित,
आनंद बरसता रिमझिम झिम,
रोमांचों में हँस सुप्त हृदय
स्वप्नों में जग उठता स्वर्णिम !

विस्मृत हो जाता देह-भाव,
विस्तृत अस्मिता,—नहीं विस्मय,
घुल जाते जड़ संस्कार मलिन,
अस्तित्व पिघल होता तन्मय !

उस तन्मयता में भाव बोध
जगता मन में स्वर बन नूतन,
सुरवीणाएँ बजती गोपन
संगीत स्पर्श हरता तन-मन।

वह कौन अप्सरा-अँगुली छू
आत्मा का करती रस मथन,
सपने बन जाते शब्द-सूर्य,
जगते रस चेतन संवेदन।

मानव की मूर्ति निखरती नव
इतिहास-पंक मे उठ ऊपर,
वह संस्कृति प्रतिमा मे ढलता,
भू मनुज-प्रेम का बनती घर।

सौन्दर्य प्रदेश

इन चन्दन आरोहों पर चढ़
मेरा मन हो उठता मूर्छित,
नीलम तम की सोई घाटी
मुझको सुख से करती विस्मृत !

मैं शुभ्र ग्रीव चित् शिखरों पर
धर कर स्वप्नों के पग नि:स्वर
चढ़ता प्रकाश आरोहों पर
लहराते मरकत जल के सर !

जग उठते रस सरसी उर में
चम्पक रँग हंस-मिथुन सोए,
चूमते गन्ध-कमलों के मुख
वे मुक्ता-फेनों से धोए !

घंटियाँ मेमनों की बजतीं,
घाटी के हों पग-पायल स्वर,
ऐसे प्रभाव पड़ते गोपन
भावाकुल हो उठता अन्तर !

चंपक शिखरों से घाटी तक
सौन्दर्य देश सित रस उर्वर,—
आनन्द वहाँ चित् पावक पी
बरसाता जीवन सुख निर्झर !

रूप स्वप्न

खुले हृदय के रुद्ध द्वार !
भू जीवन के पुलिन चूमता
नव भावों का रश्मि ज्वार !

सीमा लाँघ रही असीम-तट,
तृण के सम्मुख नत विशाल वट,
अतिक्रम करता अब अरूप को
रूप-स्वप्न उर में साकार !

इन्द्रियमुख ही आत्मा के स्वर
मिटा निखिल बहिरंतर अंतर,
रूप-मास बन शून्य बसाता
भू पर जीवन का घर बार !

रजत वह्नि सोपान से उतर
दिव्य चेतना बनी भाव-नर,
पार लग रहा, लो, अपार—
पहुँची तरणी मँझधार !

सम्मुख मरकत पर्वत पाटी,
हँसती नीलम तम की घाटी,
हीर कूप में डूब सिन्धु
पाता दिक् कूल उदार !

हरे प्राण-तिनकों का मृदु घर
जहाँ वास कर जीवन ईश्वर
चिर कृतज्ञ,—वह पिता पुत्र,
पत्नी मा, जन परिवार !

जन्म मरण सुख हित नित कातर
मर्त्य न अमर, न सरित न सागर,
सृजन मुक्त नव स्वर भरता
तृण मुरली वन स्वरकार !

स्वप्न-सत्य वर, देश काल तर,
हार शूल हर, विजय हार धर,
बोध-दृष्टि से निराधार
पा गया हृदय आधार !

सृजन आस्था

क्या फूट पड़ा मरकत गिरि से
जीवन का रजत मुखर निर्झर,
उर पाहन कैसे पिघल उठा
कुछ गूढ़ भेद या विधि का वर !

सुरधनु ज्वालाओं में लिपटे
इसके विगलित पावक के स्वर,
कँपता प्रहर्ष उन्मत्त हृदय
भावों के सुख से थर्-थर् !

युग डमरु नाद, अब नयी सृष्टि
दृग मूर्त हो रही उर भीतर,
चित् सूक्ष्म राग, नव आस्था के
हों गूँज रहे स्वर्णिम मधुकर !

पागल हो सित आनन्द, नयी
प्रतिभा में ढलता रस निर्भर,
अनगढ़ वन पर्वत करता—
तूर्य सन्देश, सूर्य रव दिग् भास्वर !

स्वप्नों के डिम्बों से कढ़ता
जीवन का खग शावक कलरव,
आकार ग्रहण करती भावी
चेतना पंख फड़का अभिनव !

कटु मध्ययुगों का रुग्ण भार
मर्दित करता मानव-अंतर,
विद्रोह कर रहा आत्म बोध
अस्तित्व निखरता उठ ऊपर !

स्थितियों की प्रस्तर-कारा में
हत जन-भू मन जीवन जर्जर,
युग शंख-नाद तोड़े इसको,
दे नव जीवन सन्देश अमर !

जन पर्वत बन कर युग मानव
निर्माण करे निज उर का जग,
इतिहास-सिन्धु के भेद लाँघ
नव मनुज-एकता के धर पग !

स्वप्न-सत्य

वे हीरक स्मृति की प्रिय घड़ियाँ
माणिक मुख के मनमोहक क्षण,
द्रुत बदल जगत का जाना पट
तुम आते प्राणों मे गोपन !

किस तड़ित् स्पर्श से जाने कब
खुल पड़ता उर का वातायन,
सौ सौ सुषमा के शुभ्र शरद
हँस उठते अतर मे पावन !

मेघों से दिखलाता शशि मुख
रज-मोह निशा पथ कर दीपित,
रस की असीम स्वर्गंगा मे
इद्रिय-विषाद कर अवगाहित !

दिग् विकसित होता जीवनक्रम
धुल जाता भू-रज का आनन,
मित प्रीति-स्पर्शमणि-अगुलि से
कुत्सित कुठित बनता काचन !

पतझर वन मे जग खिल उठते
भावों के अकुर सवेदन,
स्वप्नो का सत्य जयी होता
खुलते यथार्थ के जड बधन !

अमर पांथ

भू जीवन के अमर पांथ, जय !
तुम्हें देखता सुनता कब से
मिलता पूर्ण न पावक-परिचय !

रचना श्रम में निरत निरंतर
श्रांति क्लांति मन के प्रिय सहचर,
फूलों के पग धर, शूलों के
संकट-मग पर चलते निर्भय !

हँसमुख गर्त बिछे पग पग पर,
मुँह बाये निश्चेतन गह्वर,
गुंठित ज्योति,—एक सत्, अगणित
छायाएँ उपजातीं विस्मय !

तमस बदलता अब प्रकाश में,
युग क्रंदन चरितार्थ हास में,
तुम विकास पथ पर, भू-मन का
हृदय-स्वर्ग से करते परिणय !

भटके व्यर्थ अबोध प्राण मन,
वरण किए कितने व्रत साधन,
कितने गुरुजन, कितने दर्शन,
मिटा न उर का भय, पथ संशय!

ज्योति स्पर्श सित शाश्वत क्षण का
बोध समग्र बना जीवन का,
एक दृष्टि से वस्तु जगत् जो
    अपर दृष्टि से वह जगदाश्रय !

इह्-पर बहिरतर मधुमय लय,
एक अखड सत्य तुम निश्चय,
स्वर्ग धरा-रज ही मे गुठित,
    अक्षय सित रस मे उर तन्मय !

इद्रिय जग चरितार्थ हुआ अब
लोक स्वार्थ परमार्थ हुआ अब,
मुझमे अपने को पाकर तुम
    पूर्ण कृतार्थ हुए चिन्मृण्मय !

प्रीति आस्था

रजत शांति नभ से कब उतरा
मैं मरकत आँगन पर ?
ज्ञात न था, यह शूल फूल की
भू ही आत्मा का घर !

भार मुक्त मन, अब न असंभव-
-प्रेरित उसका रोदन,
यह संतोष कि सीमा ही
निःसीम तत्व का दर्पण !

कुसुमित इंद्रिय वीथी ही में
आत्मा करती विचरण,
दीप-हीन दीपक-लौ द्युति-मृत,
युगल मिलन ज्योतिः क्षण !

उठा सत्य-पग जन-भू मग से
पंगु बना शिव सुंदर,
विश्व विकास रहा प्रभु वंचित
कलुषित प्रभु-विरहित नर !

मध्ययुगों का मृतक बोझ
कुंठित करता जन-अंतर,
अतिक्रम कर इतिहास,
मनुज मन का होना रूपांतर !

स्वय बीतने को अब पतझर
सहज मर्जरित दिङ्मुख,
भू रचना उन्मेषित मन मे
समा न सकता क्षण सुख !

मुक्त,—ऊर्ध्व मे टँगी बुद्धि
प्रभु-मुग्ध विलोक मानव मे,
स्वर्ग लौटना जन आँगन पर
चिद् विकास पथ भव मे !

व्यक्ति समाज न दृष्टि-बिन्दु अब
ईश्वर भू पर गोचर,
नयी प्रीति-आस्था घर करती
नव मानव उर भीतर !

रस सूर्योदय

सूर्य चन्द्रमा के प्रकाश में
मैं न देखता जग को,
भौतिक लोचन—दीपित करते
वस्तु जगत् के मग को !

मेरे उर का रस सूर्योदय
देता दृष्टि मुझे नव,
देख रहा अन्तर्विधान मैं,
अन्तर्जीवन वैभव !

चन्द्र-सौम्य आभा में दिखता
सूक्ष्म भाव-जग भास्वर,
स्वर्णिम मानस-भू प्रसार
ऊषाएँ हँसती निःस्वर !

अग जग ईश्वर का निवास,
सित प्रेम-तत्व ही ईश्वर,
स्थाणु-ब्रह्म में इन्द्रिय-अंकुर
फूट रहे रस-उर्वर !

नव जीवन पल्लव, भावों के सुमन,
चेतना सौरभ
वितरित करते सूक्ष्म ब्रह्म को—
उतरा भू पर चिद् नभ !

हुआ कूप-तम मे स्वर्णोदय
हृदय गुहा ज्योतिर्मय,
ज्योति तिमिर परिरंभण भरते,
भू पथ भय से निर्भय।

नया मूल्य देना जीवन को
इसमे मुझे न संशय,
मानव भीतर मे विकसित हो
बहिर्जगत् पर पा जय।

फूलो-से ही खिलो सहज—
कहते थे ईसा निश्छल,
बहिरंतर सन्तुलित विश्व हो
भव विकास का यह पल।

वंशी

छिद्र भरा नर वंश मिला
मुझको धरती पर,
फूँक दिए मैंने इसमें
नव आत्मा के स्वर!

मेरु वंश की मुरली,
सप्त कमल दल सरगम
अगणित रागों का नित
जिनसे होता उद्गम!

जन-भू के छिद्रों को भरने
आता युग कवि,
नए स्वरों में रँग जाता
मानवता की छवि!

रीता वाँस मिला मुझको—
प्रभु प्रति कर अर्पित,
प्रीति श्वास से भर उसको
जन-भू मंगल हित—

मुक्त किया मैंने उर-राग
युगों से कुंठित,
पूर्ण-प्राण पर रसावेश
चिद् वंशी मुखरित!

जो लगते थे छिद्र—राग स्वर
थे वे श्रुति-घर,
जिन्हें सँजो, साकार हो उठा
जीवन-ईश्वर !

सीमित दृष्टि न देख सकी थी
प्रभु का प्रिय मुख,
मानव ईश्वर खड़े परस्पर
लो, अब सम्मुख !

एक सत्य बहता उर में,
रस वंशी स्वर में,
श्रुतियों के पथ से प्रेरित
जन जन अन्तर में !

हरित प्राण-वंशी में
आत्मा की हीरक-लय
नए बोध में करे
मनुज-उर को रस-तन्मय !

संयुक्त

तन से बाहर रह, मुक्त प्राण
मैं इन्द्रिय भुवनों में रहता,
मन से ऊपर स्थित, प्राणों के
पावक जल स्रोतों में बहता !

मानवी गुणों का प्रेमी मैं
चाहता मनुज-भू हो संस्कृत,
सौन्दर्य मंजरित जन-जीवन
हो भाव विभव मधु से गुंजित !

ईश्वर-मानव ले जन्म नया
भू पर, जो जन मन में गुंठित,
नव आत्म-बोध उतरे उर में,
नव मूल्यों में हो नर केन्द्रित !

सित प्रीति-तड़ित् चिद् धारा से
इन्द्रिय दीपक हों रश्मि ज्वलित,
रज-तन के शोभा दर्पण पर
अंतः प्रकाश मुख हो बिम्बित !

भू-जन के मंगल से प्रेरित
विज्ञान शक्ति हो रचना रत,
जीवन शोभा हो दिक् प्रहसित
भव लोक प्रेम नव मानव व्रत !

जन अन्न वस्त्र आवास तृप्त
हो, वह शिक्षा सस्कृति साधन,
इन सबसे महत् मनुज मन हो
ईश्वर के प्रिय मुख का दर्पण।

आनन्द मेघ वह, रस अक्षय,
उर्वर जिससे जन-भू प्रागण,
उससे वियुक्त यह विश्व नरक,
सयुक्त, स्वर्ग रज का प्रति कण।

तन मे रहकर भी मैं विदेह
भू-ईश्वर पद रज प्रति अर्पित,
मन मे स्थित भी मैं मुक्त शोक
रस अमृत स्पर्श से चिर हर्षित।

स्वानुभूति

जब तक मैं प्राप्त करूँ तुमको
तुम सहसा हो जाते ओझल,
अंतर में होते सहज उदय
बन नील मुक्ति के उज्वल पल !

अपने ही में अनुभव करने
तुम करते मौन मुखर इंगित,
जीवन कर्मों के भीतर से
हो सके स्वतः सत्ता विकसित !

जग में ही रह, भव बंधन से
हो जाता मुक्त हृदय तत्क्षण,
रुपहली मुक्ति, निःसीम मुक्ति—
कर सकती सुख न गिरा वर्णन !

आलोक हृदय में भर जाता
आलोक मधुर बाहर- भीतर,
मैं बन जाता आलोक रूप,
तन मन अभिन्न उसके सहचर !

यह सित प्रहर्ष का होता क्षण
दिक् काल हीन रस-संवेदन,
आते ही होते अंतर्हित
तुम, गुह्य उपस्थिति से भर मन ।

मैं सूक्ष्म अदृश्य जगत् में बस
भोगता स्वप्न-प्रेरित जीवन,
खुल पड़ता चिन्मय के मुख से
मृण्मय यथार्थ का अवगुंठन ।

प्रश्नोत्तर (१)

कहाँ, ईश्वर का वास कहाँ ?
धरा पर प्रेम निवास जहाँ !

सखे, क्या नरक, स्वर्ग, अपवर्ग ?
घृणा ही नरक, प्रेम ही स्वर्ग !

स्वर्ग से ऊपर क्या ? सित प्रेम !
नरक से नीचे ? अविजित्त प्रेम !

मुक्ति क्या ? सहज प्रेम-अर्पण,
प्रेम वंचित क्षण ? भव बंधन !

कर्म फल का हो कैसे त्याग ?
लोक हित अर्पित कर कृति-भाग !

प्रेम क्या ? अमृत वह्नि ही प्रेम,
आत्म-हवि देने में भव क्षेम !

पाप क्या ? होना आत्म विभक्त,
पुण्य ? भव प्रति होना अनुरक्त !

दया क्या ? प्रभु का परिरंभण,
धर्म ? तन्मय रहना प्रतिक्षण !

ज्ञान ? साधन भर, सिद्धि न साध्य,
प्रेम ही आराधक, आराध्य ।

नहीं साबुन से अधिक विराग,
हृदय पट मलिन न हो, मन जाग ।

भक्ति से श्रेष्ठ सहज अनुराग,
प्रेम ही अशन, शयन, भव-याग ।

दीप सूर्य

यह दीप सूर्य
उर स्नेह भरा
निशि गह्वर में हँसता जगमग !—

जब सूर्य चंद्र तारा न रहे
चिद् जुगनू बन
निर्देशित करता रहा
जगत् जीवन मग !

यह पावक पलने में झूला
मृण्मय दिशि आँगन में खेला
नभ मारुत ने लोरी गाई—

यह उठा अचेतन तम से जग
जो इसकी सोई परछाँई !

भू पर तम की कुंडली मार
यह उठा ऊर्ध्व फण बन मणिधर,
ब्रह्मांड विवर से निकल
काल प्रहरी सा
ज्योति नयन, दिग् भास्वर !

यह उठा, उडा द्रुत रश्मि पख,
छूने अनत का
काल हीन रग अबर !

यह दीप सूर्य,
उतरा प्रकाश के निर्झर सा
दे काल हीन सत् को प्रवाह,
रह सका न सित सूनेपन मे,
यह लाँघ प्राण सागर अथाह,

स्थिर हुआ हृदय मदिर मे बस
बन प्रीति शिखा,
तज ज्ञान नेत्र का रुद्र दाह !

यह दीप सूर्य
अब हृदय ज्योति,
आनद सृजन रस मे तन्मय,
सौन्दर्य वहन मे रत निर्भय,
नव भाव विभव करता सचय !

इसका परिचय ?

यह हरे प्राण मन का सशय,
यह हरे विश्व सकट,
भू भय,
जग मे हो मनुज हृदय
की
जय !

आकांक्षा

अब भाव शिराओं में बहता
नखशिख कचनारी सुख निःस्वर,
धुल गई राग सुरभित चादर,
शारद प्रसन्न लगता अंतर !

क्या होगा इस अकथित सुख का
यह हीरक किरणों से विरचित,
निःशब्द स्वर्ग चाँदनी सौम्य
छाई रहती उर में अविदित !

अपने ही में परिपूर्ण स्वयं
आनंद सिन्धु यह : उर मज्जित :
प्राणों की खोहों में गाता
निश्चेतन तम को कर पुलकित !

मैं मन के इस तन्मय सुख को
होने दूँगा न समाधि-निरत,
तन के रोओं में वह, भू को
यह शोभा उर्वर धरे सतत !

मैं जीवन रज का प्रेमी हूँ,
होने दूँगा न विरज मन को,
क्षर मिट्टी में मनने अरूप
अपनाता रूप-मुकुर तन को!

जो गीत हृदय-वंशी स्वर बन
फूटता,—वहन कर विश्व-हर्ष,
मानव उर को स्वर्णिम लय में
बाँधें उसके मित भाव-स्पर्श!

क्या नित समाधि सुख? अन्तर्मुख
भावावेगों में होना लय,
मैं धारण कर स्वर्गीय ज्वार
भू को प्रकाश दे सकूँ अभय!

मैं कर्म-समाधित, जन-भू का
संस्कार कर सकूँ लोकोत्तर,
नव मनुष्यत्व की ज्योति बनें
आभा उर अंकुर,—मेरे स्वर!

स्नेह दृष्टि

तुम कैसा सित पौरुष
   सात्विक बल भर देती,
हो उठता निर्भीक हृदय
   पा दृष्टि स्पर्श स्मित !

ये जो छाया के प्रासाद
      उठे भू मन में
युग-युग के लूले लँगड़े
      जीवन मूल्यों के—

मैं प्रकाश की असि से
      उन्हें मिटा जाऊँगा,—
झाड़-पोंछ जाऊँगा
      मनुज धरा का आँगन !

ये जो वाष्पों के घन दुर्ग
      अड़े पृथ्वी पर
रूढ़ि रीति के
      विधि विधान के—

तहस-नहस कर दूंगा मैं
इनको पल भर में,
प्रखर प्रेरणा झंझा से
झकझोर हृदय को !

कैसा कोमल बल भर जाता
मेरे भीतर,
हिंसा स्वयं ग्लानि वश सो जाती
मूर्छित हो—

घृणित उपेक्षित को
जन भू पर निर्भय करने
उठ जाते मृण्मय-कर स्वत
अभय मुद्रा में !

शब्द मौन रह जाते,
दृष्टि स्नेह की निःस्वर
अंतर से झांकती—

बदल जाता जग का मुख,—
कांटे की झाड़ी से घिरा
फूल सा अकलुष

मनुज दीखता
शिशु सा विवश
जघन्य परिस्थितियों की
निर्मम कारा में
आजीवन बन्दी !

विहंगिनी

स्वर विहंगिनी
फैला मुक्ताभ पंख
प्राणों में फूंक शंख,
उठती तुम ऊर्ध्व वेग
गगन रंगिणी !

मन के कर क्षितिज पार
खोल हृदय-स्वर्ग द्वार
बरसाती रस निर्झर
ध्वनि तरंगिणी !

भेद बुद्धि-सूक्ष्म व्योम
पीकर अमृतत्व सोम,
गाती आनन्द मत्त
चिर असंगिनी !

वेध चन्द्र, वेध सूर्य,
घोषित कर सत्य-तूर्य,
हरती भव दृष्टि भेद
स्वप्न भंगिनी !

तम की केंचुल उतार
चूम दीप्त सहस्रार,
नाभि विवर मे जगती
चिद् भुजगिनी !

१. फूल

जाने कैसा
आत्मबोध का था
अवाक् क्षण—

विस्मय से अनिमेष
फूल देखता रह गया
मौन, स्वर्ग सुख !—

गहरे मूलों से
धरती के
रस का ले सुख !

२. चाँद

टूटी चूड़ी सा चाँद
न जाने निर्जन नभ में
किसकी मृदुल
कलाई से गिर पड़ा !—

हाय, दूज की चाँद
कौन, जग से अदृश्य,
गोरी होगी वह !

३ पक्षी

पहिली आध्यात्मिक उडान
पक्षी ने भरी !
सदेह धरा से उठ ऊपर
वह अम्बर छूने को मचला—
चिर आत्म मुक्त, स्वर भर !

किरणो के रँग
गूँथ परो मे,
उतरा फिर धरती पर,
दाने चुन,
चुग मुँह भर !

मौन फूल

अपलक, असीम में-से तन्मय
प्रार्थना कर रहे मौन फूल,
आँखों में उर का स्नेह-अश्रु
हिमजल मोती सा रहा झूल !

मुख पर खिलते शत भाव-रंग
सचराचर उर की हो आशा,
खुलता सौरभ का सूक्ष्म-विश्व—
नव भू-जीवन की अभिलाषा !

केसरी प्रेरणा तारों को
झंकृत कर गा उठते मधुकर
मंगलमय रच मधुचक्र महत्
मानस तन्त्री में नव स्वर भर !

आकाश, सूर्य, किरणें, समीर
सब एक भावना से प्रेरित
लगते समग्र भव-संगति में
आनन्द मग्न, चेतना ग्रथित !

यह धरती भी अधखिली कली
भूमा के जीवन की सुन्दर,
प्राणों के शाश्वत यौवन में
भावी के स्वर्ग छिपे निर्भर !

लक्ष्य

मैं न अब रस गीत लिखता,
प्यार करता हूँ!

मौन सर्जन प्रक्रिया
चलती हृदय में—
ताप उसको कहूँ गोपन,
गूढ़ हर्ष कहूँ?
मैं न अब रस गीत गाता,
प्यार,
तुमको प्यार करता हूँ!

सूक्ष्म चित् सौन्दर्य
उर में उदय होता—
प्रेम के आलोक में
खोया हुआ मुख,
कनक वर्णी
फालसई परिवेश मंडित—

इन्द्रधनुओं के
अछूते रंग कोमल
बिखर बहु छाया स्तरों में
भाव गन्धी
मोहते
मन के दृगों को!

ऊब बाहर के जगत से
हृदय को
विश्राम मिलता
डूब भीतर !

जहाँ केवल प्यार
निःस्पृह प्यार
ले जाता तुम्हारे
निकट मुझको—

वही पथ है
लक्ष्य भी,
तुम भी वही
मैं भी वही हूँ—

हाँ, तुम्हीं
इस सत्य को
सम्भव बनाती !

मैं न शब्दों को पिरोता,
प्यार,
केवल प्यार करता हूँ !

आश्रय

प्रेम,
तुम्हारा हूँ मैं,
इसमे मुझे न सशय,
तुम सर्वाश्रय !

तुम्ही इष्टि हो,
रूप सृष्टि
चैतन्य वृष्टि हो !

आँखो मे सौन्दर्य,
हृदय मे मिल रस ममता,
प्राणो के उल्लास,
सृजन सुख क्षण की क्षमता !

और कौन सी मुक्ति चाहिए,
भुक्ति चाहिए !
या अमरत्व, रहस्य तत्व,
ईशत्व चाहिए ?

तुम असीम आनन्द सिन्धु हो,
सूर्य चन्द्र तारा—
प्रकाश के केन्द्र बिन्दु हो !

तुम्हीं जीवनी शक्ति,
सत्य अनुरक्ति,
समाज-मरन्द व्यक्ति हो !

कहाँ शब्द ?
जो व्यक्त कर सकें
वह सब आशय
जो तुम मुझमें भरते रहते,
हे परमाश्रय !

बीज

बीज सत्य की
सूक्ष्म खोज मे
तत्ववादियो ने
छिल्को को छील-छीलकर
फेंक दिया था—
उनको मायावरण मानकर !

मैंने फिर से
उन्हें यथावत्
बीज ब्रह्म मे
सँजो दिया है !

अब समग्रता मे
मैं उसको देख रहा—
वह
साँस
सृष्टि मे लेता
शाश्वत !

का ते कांता

का ते कांता, कस्ते पुत्रः ?
भू शोभा ही मनुज प्रेयसी,
जीवन महिमा,
लाँघ चुका नव मनुज प्रेम
गत युग की सीमा !

जाग रहा उर में चित् स्पंदन,
स्वप्न चकित, अपलक उर-लोचन,
दौड़ रहा सित रक्त
शिराओं में नव चेतन !—

का ते कांता, कस्ते पुत्रः ?
मनोदृष्टि पर विजयी
भू आत्मा की गरिमा !

एक संचरण बाहर भीतर,
एक सत्यमय निखिल चराचर,
आस्था प्रेरित थी,
शिव शिवतर,
जन भू जीवन बन ढलती
श्रद्धा की प्रतिमा !

का ते कान्ता, कस्ते पुत्र ?
व्याप्त अकेला मैं ही जग मे,
मैं ही भव-विकास के मग मे,
शूल फूल मे,
ज्योति तमस मे
मूर्त प्रेम हूँ मैं प्रतिपग मे !

बिन्दु सिन्धु मे, जन्म मरण मे
मैं ही स्वर्ग सृजन की अनिमा !
का ते कान्ता, कस्ते पुत्र ?

दारु योषित दृष्टि

उमा, दारु योषित की नाईं
जग को नहीं नचाते
करुणा सिन्धु गुसाँई !
यंत्रारूढ़ विश्व-भूतों को
माया-बल से
नहीं भ्रमाता ईश्वर !—
सम्यक् दृष्टि नहीं यह !
ऐसा तो मानव भी नहीं करेगा,
वह तो परमात्मा है !

मंगलमय हैं प्रभु,
सम्पूर्ण दया निःसंशय;
प्रतिक्षण संघर्षण रत रहते
जीवों के सँग !
आगे बढ़ने,
भव विकास को गतिक्रम देने !

वैसा तो पूँजीपति करते,
उत्पादन साधन यंत्रों को
अधिकृत कर जो,

क्षुधार्त जनगण का
शोषण करने,—
उनसे नाच नचाने !
ईश्वर
पूँजीपतियों का पूँजीपति—
अक्षय धन-कुबेर वह,
शोषण के बदले
वितरण करता वह निज धन—
जो जन जन का जीवन,
तन मन का,
उर प्राणों का
स्पंदन है !

उमा,
प्रेम है ईश्वर, वह नि:सीम प्रेम है !
सत्य ब्रह्मन्, ज्ञान ब्रह्मन्,
शक्ति स्वरूप
अनंत ब्रह्मन्—
पूर्ण प्रेम ही ब्रह्म, सत्य, शिव,
शुद्ध ज्ञान, मांगल्य शक्ति है !

ब्रह्म-शक्ति माया को, ईश्वर जीवजगत् को
छिन्न-भिन्न कर
हाय, आत्महत्या की
मध्ययुगी दर्शन ने !

परमेश्वर, देवाधिदेव जो
पद-कीट भी वही नहीं क्या ?

वह अपने
सित अनवविद्ध निःसीम प्रेम में
सृष्टि रूप में भी क्या
ईश्वर नहीं अकलुषित ?

उमा,
जगन्माता तुम, श्री तुम,
विश्व प्रेयसी,
भूजन को सित प्रेम दृष्टि दो,
पूर्ण, अखंड, समग्र दृष्टि दो !

सर्प रज्जु भ्रम

हाय, सर्प को रज्जु बताकर
भ्रम ही आया हाथ,
अधर में अटका औंधा
ब्रह्मवादियों का
विवाद मन !

जीवन का वासुकि सहस्र फन
कुंडल मारे दिशा काल पर,
स्वत सिद्ध,
(जड़ ही में चेतन !)
सिर पर धारे चिन्मणि भास्वर !

भव विकास क्रम में
गति के शत चिह्न अगोचर
छोड़ रहा वह अथक, निरंतर !

मिथ्या बतला सिद्ध सत्य को
दीपक से विलगा
दीपक की लौ अतिचेतन,
ब्रह्मवाद ने, निश्चय,
किया अमंगल जग का
भव तम भ्रम में
भटका भू जन !

अन्त जहाँ वेदांत—
देखता परे वहाँ से
कवि का ईश्वर-अंतर,
अविच्छिन्न जग-ब्रह्म,
सत्य भव-सर्प,—
ब्रह्म का मूर्त रूप भर !

रूप शब्द को छोड़
अर्थ की खोज व्यर्थ,
सित शब्द-अर्थ संपृक्त परस्पर,
रूप सर्प ही ब्रह्म, परात्पर !

रज्जु रज्जु, भ्रम भ्रम,
तम भ्रम से शून्य असंशय
ब्रह्म सर्प क्षर-अक्षर !

दीप ज्योति ही में होता
मृद् दीपक गोचर,
ब्रह्म ज्योति ही जगत्
ब्रह्म ही निखिल चराचर !

अन्न प्राण मन छील ब्रह्म से
ब्रह्मवादियों का भ्रम ही
बन गया ब्रह्म—
कवि को प्रिय ईश्वर,—
इह-पर कारण !

सर्प रज्जु भ्रम मे फँसकर, हा,
(माया मिली न राम !)
शून्य मे लटका छूँछा
ब्रह्मवाद का
ज्योति-अंध मन !

प्रेम मार्ग

भक्ति न माँगो,
मुक्त प्रेम देता,
बदले में मुक्त प्रेम मैं लेता !—
मनुज प्रीति ही मूर्त भक्ति,
कहता तुम से ईश्वर मानव,
चिद् दृष्टि तुम्हें दे अभिनव !

भक्ति काम दो छोर नहीं,
निष्कलुष प्रेम पथ दुस्तर !
वही काम जो भक्ति
हृदय स्थिति पर
जन कृति पर निर्भर !

प्यार प्रिया को करते जब तुम
मैं ही बनता चुम्बन,
भक्ति मुझे देते, मैं ही
चरणों पर होता अर्पण !

मुझे दास प्रिय नहीं, सखा प्रिय,
मैं हूँ मानव सहचर,
पति पत्नी से कहीं निकटतर
प्रेमी उर का ईश्वर !

भक्ति ठीक थी,
जब विभक्त थे इह-पर मे
भव ईश्वर,
मैं अखड दोनो ही मे
जन भू पर अब
ईश्वर नर !

मांगो मत, मिमियाओ मत,
मैं ईश्वर हूँ न कि प्रस्तर !
अति सवेदनशील,
मनुज काक्षाओ से मैं
अधिक वेगमय, द्रुततर !

भू इच्छाएँ ज्ञात मुझे,
वे सब विकास पथ पर—
पूरी होगी—मेरा अक्षय वर !
तुम्हे पूर्ण अधिकार
उन्हे छीनो, पाओ,
भोगो हो निर्भय !

मत निराश हो असफलता से,
निज कर्तव्य करो,
जन हित कर सचय !
स्वार्थ घृणित अति,
महत् लोक हित,
निज को पर, पर को निज करने ही मे
सार्थकता अविरत
मानव जीवन की निश्चय !

सृजन प्यार करना है,
वह क्षण मैथुन हो
या ईश्वर चरणों में होना
निरहं लय;
इंद्रिय रति हो,
आत्मबोध गति,
लोक कर्म में होना या रस तन्मय!

यह जगती प्रेयसी मनुज की,
प्यार करो इसको—
अगणित आँखों से आँखें मिला;

सृजन सुख इच्छा से
भू शोभा मांसल
स्फीतवक्ष में गड़ा क्लांत मुख
एक प्राण मन हृदय असंशय;—

राग द्वेष कुंठा से कहीं महत् रे
रचना कर्म,—
मनुज हित
प्रेम स्वर्ग पथ निर्मित करने ही में भू पर
मानव आत्मा की जय !

तृण तरी

छोड अनल उद्वेलित जल में
तृण की तरी भली,
मैं निर्भय हो तिरता,
जिसके बल से लघु तृण बली ?

छिद्र अनेक तरी मे तृण की
जाती सहज चली—
तृण न डूबते सरिता मे,
चाहे गहरी हो उथली !

स्वप्नो के तृण, जला न पाता
चिन्ता पावक छली,
प्रीति तरी, जन जन उर के
स्वर्गिक भावो मे ढली !

जीवन कर्दम से उठकर
खिल आई कमल कली,
सूक्ष्म चेतना बल इसका बल
आत्मबोध मे पली !

तन मन की आँधी मे
जब भी प्राण-सरित मचली

चीर नीर यह आस्था तरणी
सहज पार निकली !

जब जब भी सित सत्य अभीप्सा
उर में फूली फली
जग के मृग मरु में
चल जीवन तृष्णा स्वयं जली !

अमृत तरी

उस पार मृत्यु तट पर जो
नव जीवन ज्योति धरी थी।
मैं उसे छीन लाया, लो,
यम से,—वह अमृत तरी थी।

भिद् विस्तृत, जन्म मरण के
पुलिनों को करती ज्योतित,—
आनद तरी पर बैठा
मैं अब रस के भग में स्थित।

छँट गया मोह-तम, जिसको
मैं मृत्यु समझता आया,
मेरे प्रकाश में वह थी
मेरी ही मानस-छाया।

मर गई मोह रज देही
जो मुझे किए थी सीमित,
प्रिय जन्म मरण मेरे शिशु,
दोनों मुझसे आलिंगित।

ये श्याम गौर दो भाई
खेला करते मिल प्रतिक्षण

मेरे करतल-प्रांगण में
हँस, खोल-मूँद निज लोचन !

सब नाम-रूप अब मेरे
हरि हो, केशव हो, माधव,
निज को नित अतिक्रम करता
मैं बन पुराण से अभिनव !

व्यवस्था

इस जगती का काँटों का मग,
जो रुके हुए
वे गंध-फूल बन सकें सुभग
जब प्रेम धरे धरती पर पग !

यह अंधकार की कृपण गली,
जब सत्य मार्ग ही में अटका,
इस ज्योति बहुत भटकी पगली,
तब हृदय स्पर्श पा,
सत्य ज्योति
जीवन मंगल पथ पर निकली !

यह अग्नि गर्त का सागर-तम—
उठ सका न जब चैतन्य ऊर्ध्व,
छाया भूमा उर में दिग्भ्रम,
तब रची प्रेम ने सृष्टि
सुधाया भव विकास का
क्रम निरुपम !

रवि चंद्र न थे, या दिशा काल,
जब प्रकृति अंध थी,
पुरुष पंगु,

प्रारब्ध सुप्त ज्यों अंधकूप,—
निकला वंशी लय पर विमुग्ध
निश्चेतन विल से सृष्टि व्याल:

अपरूप शून्य
बँध प्रीति पाश में
बना व्यवस्थित जगज्जाल !

नया बोध

जब अवाक् हो उठता अंतर
बहता तब संगीत मौन में
किस अंबर में झर झर !

वह अनहद संगीत
न उसमें भाव अर्थ ध्वनि, लय स्वर,
तन्मयता अज्ञात
आत्म पर रहित
स्वयं पर निर्भर !
चेत नहीं रहता जब मन को
कौन बजाता तब उर वीणा
संकेतों में निःस्वर !

ज्योति कमल खिल कुम्हला जाता,
अंधकार उर घेर न पाता
भान उपस्थिति का मिटता
पर
हृदय शून्य में नहीं समाता !

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति न,
रहस्य अवस्था में किस
कौन प्राण अभिव्यक्ति करता
ज्ञान-अगोचर !

कूल नहीं, जल नहीं, सरित वह
मूल नहीं, दल नहीं, हरित वह,
इह-पर, इस-उस पार न उसमें,
पूर्ण रिक्त सँग पूर्ण भरित वह,—

नए बोध में जग मन कहता
जो वह, वही जगत् यह,
भिन्न न जग से ईश्वर!
......जब अवाक् रहता हत अंतर!

मृदु वास

खो जाता निर्वाक् नीलिमा में
किशोर मन फिर फिर,
निर्निमेष रह जाते लोचन
नील मुक्ति में तिर-तिर !

मुझे घेरती शरद धुली
नभ की निर्मलता क्षण-क्षण,
नीड बसाने को वह कहती
गगन शून्य में नूतन !

हृदय स्पदनों का मैं विस्मय
—नीड सँजोना सुदर,
जहाँ प्रेम रह सके
स्वप्न-पत्रों के सुख में छिपकर !

भय संशय शूलों से बिंध वह
हो न जाय आहत मन,
उसे सुरक्षित रखने मैंने
चुना स्वर्ग का आँगन !

प्रेम हँसा,—बोला, तिनकों का
वास बना क्षण भंगुर

भू पर मुझे बसाओ—
भय संशय के फूटें अंकुर !

शूलों पर चल, मैं भू कल्मष
उर शोणित से धोकर
क्षण भंगुर को शाश्वत सुख का
दे जाऊँगा सित वर !

द्यावा पृथ्वी में न समाता,
भूमा मेरा मंदिर,
अमृत पुत्र, शिशु-क्रीड़ा करता
मृत्यु-अजिर में अस्थिर !

नील शून्य हृत्स्पंद रहित
जग हित प्रकाश गृह भास्वर,
धरती को ही चिद् जीवन का
मुझे बनाना मृद् घर !

अमर यात्रा

तृण की तरी
तीर पर ठहरी,
पाथ,
पार जो जाओ !

व्यर्थ धर्म नय पथ, दर्शन मत,
यान ज्ञान-विज्ञान के महत्,
यह तृण तरणी,
सीमा ही मे लय
असीम तुम पाओ !

हरित-पख तृण तरी क्षिप्रतर,
भव सागर अब और न दुस्तर,
नव आस्था मे डूब
हृदय का
तन्मय भार डुबाओ !

सृजन गुहा की द्वार यह तरी,
प्राण चेतना ज्वार से भरी,
आर पार का भ्रम न वहाँ
तुम इसमे जहाँ समाओ !

तरी सिन्धु, भव सिन्धु ही तरी,
दृष्टि हृदय की हो जो गहरी
प्रति कण तीर;
काल-लहरों पर
शशि-कर नीड़ बसाओ !

पांथ, पार जो जाओ !

तम प्रदेश

इन अँधियाली के तरुओं पर
तारओ की छाया भाती,
चिर हरे अँधेरे कानन मे
वह आँख मूँद पथ दिखलाती !

चिंघाड रहे वन पथ मे गज,—
वह हरी आँख का नृप नाहर,
उसकी दहाड से हर्ष ध्वनित
निश्चेतन मन के मद-गह्वर !

यह अध गर्त अहिराज विवर,
पैठा सहस्रफन फणिमणिधर,
वह कुडल मारे तन मन पर
भय के सुख से कँपता अतर !

चौकडी मारकर चपल हिरन
पडते उड सिहो के मुख मे,
कानन कराल, डूबे सब पशु
भीषण-मादक कर्दम-सुख मे !

इस तम कानन में चंपक की
प्रिय वीथी, प्राण मलय सुरभित,
अन्तरतम में बहती कलकल
हीरक-जल की सित बोध सरित !

भू-मन को सींचा करती वह
तम-तट प्रवाह रखते जीवित,
यह अन्धकार चिज्ज्योति अन्ध
सित ज्योति अन्ध तम प्रति अर्पित !

गिरि रीछ गहन तम वन भीतर
निश्चेतन कर्दम में पोषित
द्रुत कूद लिपट जाते मन से,
छूटते नहीं बल से किंचित् !

सार्थकता पशु से लड़ने में,
जूझना प्रेम से होता नित,
रस पर्वत चिद्घन अन्धकार
जिससे बहु राम कृष्ण कल्पित !

भव भेद दृष्टि भर तम प्रकाश,
दोनों मन मुद्रा के दो मुख,
देता प्रकाश सित सत्य बोध,
तम-सिन्धु संतरण शाश्वत सुख !

अभिसार

नीलम तम के निभृत वक्ष मे,
रहती तुम छिप नि स्वर,
हरित तृणो का मरकत प्रागण
भाता स्फटिक सु दर ।

मौन मिलन सुख मे मिलती तुम
रस तन्मय बन मधुक्षण,
कौन प्रेरणा करती तुमको
तन मन जीवन अर्पण ।

विस्मृति का सित अन्धकार ही
नव प्रकाश उर मे भर
बरसाता आनन्द-स्पर्श-प्रिय
आत्मबोध के निर्झर ।

चन्दन सौरभ से भर जाता
रोमाचित अन्तर्मन,
सूक्ष्म स्नायुओ मे बहता
नव जीवन का सवेदन ।

तुम आती जब, शक्तिपात
सह पाता सिहर न तृण तन,
भावों के पथ से करती
अभिसार हृदय में गोपन !

जन्म ले रहा नया मनुज
स्वप्नों के उर के भीतर,
अभी वस्तु-आधार न प्रस्तुत
उतर सके जन-भू पर !

तुम्हीं खोल सकती भू-पथ पर
ज्योति क्षितिज वातायन,
रूढ़ि तमस से मुक्त, युक्त-नर
करे धरा पर विचरण !

गत भू-स्थितियों में सीमित अब
आत्म प्रेत निज मानव,
नव्य मूल्य केन्द्रिक बन, भव को
भाव विभव दे अभिनव !

चित्प्रदेश

नील भँवर जीवन रस सागर !
फिरकी-सी उर नाव डोलती,
काँप रहे जड़-चेतन थर-थर।

यह स्वर्णिम स्वप्नों की नौका
प्राण वायु का मानो झोंका,
पार लगे इस तृण तरणी में
कितने योगी यती धनी नर !

आर न पार, न आना-जाना,
बिन्दु-बिन्दु पर अमर ठिकाना,
शंकित चित्त न पास फटकते,
यहाँ डूबने का न, पथिक, डर !

सरित न कूप, न सरवर सागर,
कूलहीन रस कूलों में भर
नित अकूल ही रहता,
रस ही भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर !

यह न समाधित, यह न जागरित,
मुक्त मुग्ध में न समाता परिमित,
यहाँ डूब मरने मत आओ,
अति जीवित हो जाओगे तर !

परम बोध

नीलम का भू जीवन मन्दिर,
मरकत तृण पुलकों का प्रांगण,
सित प्रीति शिखा स्थापित भीतर,
आनन्द प्रणत करता पूजन !

हंसों के स्वर्णिम रथ पर चढ़
सौन्दर्य उतरता भाव-मौन,
रोमांचों का स्रक् अर्पित कर
सोचता, रहस यह शक्ति कौन !

आश्चर्य महत्, कहते द्रष्टा
देवाधिदेव का अधिष्ठान,
यह मुक्ति न बन्धन, परम बोध,
गाता शोणित अमरत्व गान !

प्राणों का सुख उठता पुकार,
हो जाता हृदय स्वतः तन्मय,
इस रूप-सिन्धु में दिङ् मज्जित
लय हो जाते सब भय संशय !

यह रस के सित तम की माया,
घनश्याम राम जिसमें विकसित,
जीवन प्लावित रखता जग को
चिर जन्म-मरण तट कर मज्जित।

यह सृजन शक्ति का विजय केतु
अभिभूत जगत् के जड़-जंगम,
तम-ज्योति मुक्त, गंगा-यमुनी
मानव हृदयों का मित संगम।

यह भक्ति न कीर्तन आराधन,
चित् सत्य सृष्टि क्रम में मज्जित,
प्रस्तर की ईश्वर प्रतिमा भी
पा हृदय-स्पर्श होती विगलित।

रस-बोध गहन ही नीलम मणि,
स्मित रोमांचों के तृण मरकत,
यह रस तन्मयता का स्वभाव
मिलता कण कण उर में पर्वत।

सीख

अवसाद ?
मत पास फटकने दो इसको,—
जीवन विकास हित
घातक यह,
भूजीवी के हित
पातक यह !

नहीं स्पिनोजा ही का मत
यह मेरा भी अनुभव, अभिमत !

हाँ, आह्लाद ?
इसे निज जीवन-सखा बनाओ,
श्रम को अपनाओ,
भू-जीवन मंगल गाओ !

अपने लिए नहीं
स्वदेश के लिए भी जियो,
घाव भग्न-हृदयों के सियो !

यह धरती
   जगती उनकी है
जो अपने ही नहीं
दूसरों के हित भी
      जीवित रहते—

युग विराम वेला में—
   औरों के भी
      सुख-दुख सहते !

स्वर्ण किरण

तुम कहती हो
(मन में दर्प दबा गोपन)
मैं स्वर्ण किरण
क्यों नहीं बाँट देता
तुमको भी,
औ' उबार लेता
तुमको भी—
अंधकार में भटक रही जो,
मग में पग पग
अटक रही जो !

गलत समझती हो तुम मुझको !
स्वर्ण किरण क्या बाँटी जातीं ?
वह क्या किसी एक की थाती ?
भला, कौन होता मैं
स्वर्ण किरण का वितरक ?
—मुझे न ऐसा दंभ ?
नहीं झक !

स्वर्ण किरण तो
बरसाता सित चिदाकाश
बिखरा अनंत उल्लास !

रोम रोम मे घुमने को
आतुर लगती वे
अनायास !

तुम चाहो तो
तुम भी उनको चुन सकती हो
गुन सकती हो,—

दीपित कर सकती
उर मंदिर आँगन
तत्क्षण !

पर तुम तो
दुख के गौरव का
बोझ वहन करना,
भार सहन करना
कर्तव्य समझती अपना !
सुख हो मिथ्या सपना !

दुख ढँक लेता ईश्वर का मुख
धूमशेष वह मन का हुतभुक्,
छाया घन सा छा जाता जो
आत्मा के अकलुक चंद्र पर
उर प्रकाश हर !

दुख जो निष्क्रिय
वह तुमको प्रिय,
अपने ही में सीमित
तुमको रखता सक्रिय !

स्वर्ण किरण तो
तब पैठेगी भीतर
जब तुम अपने मन का
फेंको दमित अहं का
विषधर फन
गर्वित गुंठन !

क्या है दुख ?
अपने ही को रखना सम्मुख !
सुख ?
स्वार्थ विमुख हो
जग जीवन प्रति होना उन्मुख !

स्वर्ण किरण
इससे भी पर
अक्षय अक्षर,
आनंद दीप्त क्षण !

आत्म नम्र ही
जिसको कर सकता
श्रद्धा से वरण,

आस्था से
भव-सिन्धु कर तरण !

प्रश्नोत्तर (२)

कवि, क्या कवित्व ?
रस सिद्ध शब्द !
क्या गीत ?
स्फुरण, मार्मिक निःस्वर !
क्या अलंकार ?
असमर्थ अर्थ !
क्या छन्द ?
स्वन झंकृत अक्षर !

रस ?
ध्वनि समाधि, वाणी से पर !
सौन्दर्य ?
प्रीति-मुख का दर्पण !
आनन्द ?
तत्व का रहस स्पर्श !
क्या अमर काव्य ?
रसमय दर्शन !

सौन्दर्य

पूछा हँस आनन्द ने सहज,
'कवि, क्या सुन्दरता अपने में
स्वयं पूर्ण है ?'

कहा हृदय ने,
'हाँ,
आनन्द प्रसू सुन्दरता,—
अपने में
वह स्वयं पूर्ण है !'

कहा प्रेम ने,
'कवि, क्या सुन्दरता अपूर्ण है ?'
बोला कवि,
'वह मृदु प्रदीप भर,
प्रेम,
तुम्हीं हो हृदय-ज्योति
सौन्दर्य-दीप की !
जिसको सित आनन्द रश्मियाँ
घेरे रहतीं !'

दृष्टि

यह नीलिमा
नयनिमा—
शाश्वत मौन नयनिमा,
देख रही अनिमेष तुम्हें जो !
सोच रही विस्मय अवाक्
तुम कितनी सुन्दर हो
भू पर कितनीऽ सुन्दर !

जब प्रसन्न रहती तुम
उषा सुनहली स्मिति का
सित प्रकाश बरसाती निश्छल !
लज्जारुण हो उठता नभ
पी अपर लालिमा उज्वल !

तुमको देख उदास
मौन गम्भीर साँझ
छा जाती भू पर—
रुक जाती तृण तरु अधरों पर
दिशि उर मर्मर !
लौट नीड को जाते खग
सोते कलरव स्वर !

तारा-घन सा
चिन्तन-गहन दीखता अम्बर
अपलक निशि में,—
कैसे तुम प्रमुदित मन
सुख से रहो निरन्तर—
कैसे हो दुख का क्षय
प्रज्ञा उदय
धरा पर !

कब से चिन्तातुर
अगाध अन्तर अनन्त का—
पहचानो तुम मुख पतझर का,
पहचानो तुम
मुख बसन्त का !

शुभ्र शरद-सा
रहे अरूप चेतना का मन,
उठे प्रीति सौन्दर्य ज्वार
जीवन सागर में
हो कृतार्थ भू-प्रांगण !

नभ की सित नीलिमा
समा जाती
मेरे नयनों में निःस्वर—
भाव दृष्टि
अन्तर को देकर !

और देखता तब मैं अपलक
कितनी सुन्दर हो तुम भूपर
कितनी सुन्दर !
ईश्वर ही का सत्य अनश्वर
सुन्दरता मे स्वप्न-मनोहर
उतरा हो तुममे
सर्वांग मधुर स्वरूप धर !

धरती यदि
फूलो मे खिलती,
वैसी ही तुम
उसे दीखती—
अकलुष निरुपम !

सौरभ मे यदि
भरती वह उच्छ्वास,
तुम्हारे प्रति अनुराग
हृदय मे उठता जाग !

यदि समीर
फिरता मद विह्वल,
या लहरो की बजती पायल,
तो वे केवल
तुम्हें देख हो उठते चचल !

शुभे,
मधुर सौन्दर्य स्पर्श पा
मैं भी तन्मय
सुख विभोर हो
तुम्हें गोद में लेता हूँ भर—
और उठाकर
लगा हृदय से लेता सत्वर !

लगता तब,
मैं निखिल सृष्टि का भार
उठाए हूँ कन्धों पर,
निखिल विश्व दायित्व लिये हूँ
अपने ऊपर !

ईश्वर-सा अनुभव करता
मैं अपने भीतर !
हँस उठते सब रोम,
रूप की तड़िच्छक्ति से
पौरुष से खिल उठता अन्तर,—
मस्तक से श्रम बिन्दु
बरस पड़ते झर झर झर !

कैसे प्राण,
तुम्हारे रहने योग्य बनाऊँ
मैं वसुधा को,
मृण्मय घट में
भरूँ सुधा को !

कैसे निज सर्वस्व लुटाकर
तुम्हें बिठाऊँ
निर्भय, जन मन सिंहासन पर !—
स्वर्ग प्रीति की प्रतिनिधि
तुम बन सको धरा पर
मानवीय हो जग,
घर द्वार बने ईश्वर का !

तुम पर
श्री सौन्दर्य ज्योति
आस्था प्रतीति पर
शलभ मुग्ध नर
तन मन जीवन
करें निछावर !

भारत नारी

भारत नारी,
तुम शोभा-चेतना तपोज्वल,
कभी अपावन भी हो सकता क्या गंगाजल ?
कितने-शुभ्र वसन्त रुके जीवन डालों में—
(शिशिर अश्रुकण अब न रहेंगे स्मित गालों में !)
अभिवादन करने को प्रिय चम्पक अंगों का !
(सुरभित कांचन को न मोह कृत्रिम रंगों का !)

कवरी में होंगे कृतार्थ हँस फूलों के दल
नव मरंद गन्धों से गुम्फित विस्तृत अंचल !
चंचल मलय समीरण साँसों में प्रवेश कर
शील संयमित, जग में उर सौरभ देगा भर !
कोकिल कुहुक कहेगी—जग मंजरित आम्र बन,
देह मान छोड़ो, विदेह प्रेयसी, सखी बन !

तुम वसन्त में लिपटी होगी शरद सौम्य स्मित
भेद यही, मुख चन्द्र सलज होगा अकलंकित !
सहज प्रेम बाँटो, बन प्राण जलधि में तरणी,
मोह मुक्त हों राम, प्रेयसी तुम, जगजननी !

प्रेम

जाने कैसे उदय हृदय में
होता वह मुख !
दीप शिखा, कंचन तारा सा,
सलज अप्सरा-चंद्रकला सा—
वह प्रिय-श्री मुख
मूर्त स्वप्न सुख !

लो, वह शोभा मुकुल
खिल उठा अब दृग सम्मुख,
भाव-भोर में
खोल पँखड़ियाँ मांसल !
वस्तु कुसुम से भाव कुसुम यह
कहीं मनोरम,
निरुपम,
सद्य कोमल !

विहँस रहे प्रतिपल
सुषमा के सित सौरभ दल !
कितना स्पंदवर्य निरंतर
स्वर्ण मरंद सुभग झर झर
प्राणों में निरंतर रहा निःस्वर !

कौन छंद गा सकते महिमा
कवि तंत्री में स्वर भर !

सूक्ष्म अग्नि लपटें हों प्रतिक्षण
फूट रहीं छू रागाकुल मन,
खुलते उर में
क्षितिज पर क्षितिज
भाव बोध के नूतन !

यह सौन्दर्य फूल में सीमित ?
(फूल नहीं वह, चुंबित मुख स्मित ?
फूल न मुख, वक्षः स्थल स्पंदित ?
वक्ष न, हृदय प्रणय प्रति अर्पित ?)

लो, सौन्दर्य फूल में सीमित ?
या वह मेरे अंतर में स्थित ?
मुग्ध दृष्टि से जब छवि प्रेरित
तुम्हें देखता मैं सुख विस्मृत ?

स्वर्ग विभव में स्नात
तुम्हारे अंग-अंग से
नव लावण्य बरसने लगता
राशि राशि,—अम्लान, अतंद्रित !

तुमको लगता
तुम्हें निहार रहा मैं तन्मय
निर्निमेष दृग, विस्मित !

एक किरण हँस उठती
मौन मुकुल के मुख पर,
एक स्वर्ग आलोक
तुम्हारे रोम रोम से उमड
फूटने लगता बाहर !

बदल निखिल जाता परिवेश
विरस जीवन का
तडित् स्पर्श से !
शाश्वत लगता प्रणत
महत् उस क्षण पर निर्भर !

प्रेम,
कौन सी अमृत शक्ति तुम ?
मिट्टी स्पर्श-पुलक पा
हँसती दूर्वा श्यामल,
रंग पल पुष्पों को बरसा
तृण तरु गुल्म लताएँ कँपती
सुख से पागल !

अमृत स्पर्श से
शत सहस्र ब्रह्माड
सूर्य शशि तारा स्पंदित
निद्रा से ज्यों जग
भर देते नील शून्य का अचल !

और एक साधारण मुख
लावण्य कमल वन
अमित रूप-सुषमा के
पावक दल फैलाकर
दृष्टि भ्रमर को
करता मुग्ध, निर्निमिष प्रतिपल !

सब से बड़ा फूल,
रस शतदल
मनुज हृदय—
जिसमें असंख्य भावों की
शोभा स्मित पंखड़ियाँ

प्रेम स्पर्श से
नव रहस्य भुवनों में खुलकर
आँखों को रखतीं अपलक
उर में विस्मय भर !

उदय हृदय में होता जो मुख
उसकी सुषमा, महिमा, गरिमा
तन्मय प्रेम-दृष्टि पर निर्भर !

मनुज हृदय ही स्वर्ग,
प्रेम ही जन-भू ईश्वर !

चंद्रमुख

अब भी चाँद दिलाता याद
किसी प्रिय मुख की
मेघों से आ बाहर!

भले वहाँ दिग् यान भेजकर
वैज्ञानिक जन-लोक बसाएँ,
कहे, वहाँ ऊबड खाबड तल,
वाष्प, रेत, ककड रज छाए!

नहीं मानता ग्रह उसको मन,
वह सौन्दर्य प्रतीक मनोहर,
निरुपम मोहक रूप बिम्ब भर,—
विश्व प्रेयसी का मुख दर्पण!

अब भी याद दिलाता चाँद
शील सुषमा की
स्निग्ध रश्मि बरसा कर!

खोज रहा मैं शरद सौम्य मुख
जो हर ले उर-प्राणों का तम
हर ले जीवन का कृतघ्न श्रम,—

गहराती जाती
संकट की निशा धरा पर,
श्रद्धा आस्थाहीन हृदय,
छाया मन में संशय भ्रम !

मुझे प्यार चाहिए,
प्रेयसी भी,
जो चाँद,
हृदय में नीड़ बसा स्वप्नों का
बरसा श्री सम्मोहन
दीपित करे धरा पथ,—
अमृत सिक्त भू प्रांगण,
सार्थक हो गरिमा से मानव जीवन !

और कौन प्रेयसी
तृप्त कर सकती
मन की अग्नि पिपासा,
कवि की आशा
शोणित की विद्युत् अभिलाषा ?

कौन प्रेयसी
मूर्तित कर अमूर्त संवेदन
स्वप्नों को दे सकती
जीवित मांसल भाषा ?

प्रेम ?
गड़ गया प्राण-पंक में
उसका सित रथ,—

घर आँगन से बाहर उसको
सुलभ नही
महिमा विस्तृत पथ !

घृणा द्वेष से, कलुष क्लेश से
जर्जर स्वर्गिक हम
पडा जन-भू कर्दम मे
क्षत विक्षत,
मूर्च्छित श्लथ !

चाद,
याद आती मुझको
किस चद्रमुखी की ?
उमड सिधु रस प्रेम
मग्न कर देता नि स्वर
जन-भू अतर !

आत्म कथा

प्यार न मुझको मिला स्त्रियों से,
मिला सहज आदर,
मैं प्रसन्न हूँ ! कहाँ प्यार को रखता
जग से डर !

प्रेम बन सका मैं,
अपना सर्वस्व त्याग तुम पर,
नई पीढ़ियों को देता हूँ
नए प्रेम का वर !

युवतीजन को युवक समादर दें,—
वे कोमल तन,
प्यार करें युवती युवकों को,
प्यार मनुज जीवन !

शोभा बने धरा की नारी,
शोभा स्वर्ग प्रकाश,
मुक्त हृदय दे प्रेम विश्व को,
भू हो प्रेम निवास !

अमृत-प्रेम का गरल पान कर
मैं हूँ न्योछावर,
प्रेम देह-मन से उठकर ही
बनता श्रेयस्कर !

प्रेम प्रकाश-सदृश बरसे
जन धरणी पर झरझर,
सार्थक हो भू जीवन,
मुक्त हृदय हो नारी नर !

ऊर्ध्व स्वाग, लय कहाँ हो रहे
ओ द्रष्टा मानव,
भू को करो प्रेम रस तन्मय,
स्रष्टा बन अभिनव !

वशीभूत नित प्रेम-तत्व के
अग जग, सचराचर,
प्रेम सत्य शिव सुन्दर स्रष्टा,
प्रेम मनुज-ईश्वर !

वेणी वार्ता

सिर से आँचल खिसका
मृदु वेणी लहराती
जब तुम आती
छाया वीथी से
नत सिर, स्मित मुख
क्षण भर
सन्ध्या आँगन में रुक,—

वातावरण बदल सा जाता
तुम्हें घेरकर
चंचल हो उठती समीर
कवरी सौरभ पी ;
स्वर्णिम शोभा-तीर
हीर किरणों-से निःस्वर
प्राणों में धँस
रोओं में हँस
भावाकुल कर देते अन्तर !

उपचेतन आकांक्षा का
स्मिति दीप्त सुनहला छवि मंडल
छा लेता अविकल

सौम्य सलज प्रिय मुग्ध वो
कुछ पल !

मुझे पीठ पर लहरी
उस भूरी कबरी में
सभी मानवी मधुर भाव
तिरते-से मिलते !

कवि का किससे क्या दुराव ?
करुणा ममता
स्मृति, स्नेह, शील,
शोभा लज्जा—
अनगिनत मानसी हावभाव
अन्तर में खिलते !

हंसगमनि,
हिलडुल कर
सुगठित पृष्ठ भाग पर
आमन्त्रित सा करती मुझको
शोभा लहरी
श्यामल कबरी
कोमल सन्ध्यातप सी छहरी !

कहती चुपके—मुझको छू लो,
छोडो भय संशय,

सच,
यदि निश्चय चाहता हृदय,
तो,
छू लो, मुझको छू लो !

कौन लोक मर्यादा इससे भंग हो रही ?
या यह भूरी कबरी ही
निज रंग खो रही !

शोभा-तम की सी निर्झर
यह तुमको
यदि लगती सुन्दर—
तो छू लो निर्भय !
यह होगी
वेणी ही की जय !

सम्भव, तुम खेलना चाहते
इस पाली पोसी नागिन से
कितने दिन से !
शोभा जिसका गरल
स्नेह सौरभ ही दंशन !
तो क्यों उन्मन ?
छू लो, चुपके छू लो,
दुविधा भूलो !

मैं अपने पर सयम रखता,
वर्जित फल जो
उसे न चखता !
वेणी मुझको भले लुभाए
सुन्दरता मन में गुंथ जाए—

पर, मैं वेणी छू लूँ तो
तुम क्या समझोगी ?
वयस मान से गाली मुझको
भले न दोगी—
मन मे तो झिझकोगी,
छद्म क्रोधित भी होगी !

भिन्न रूढियों में है पली
तुम्हारी वेणी
मर्यादा तम श्रेणी !

इस स्वतन्त्र भारत में
तुमसे स्वतन्त्र होकर
यदि वह मुझे बुलाए,—
तुम्हें न भाए !—

होगी क्या न ढिठाई ?
छू लूँ वस्तु पराई !

तुम परिणीता—
(वैदेही थी यद्यपि सीता !)

अंग अंग तुमने
पति के प्रति किए समर्पित !
काम मूल्य में सीमित !
और बँध गया अब मन
केवल देह-भाव में ;
डूब गई आत्मा की शोभा
चर्म नाव में—
निखिल विश्व से गुण्ठित !

सत्य कबिरा की बानी
नाव बिच नदी समानी !!

जो निश्छल सौन्दर्य प्रेरणा
उदित हो रही मेरे मन में
वह कलुषित हो जाय न
खोकर त्वच-प्रिय तन में
तम के वन में !

मुझको भय है,
यह संशय है—
जो अप्सर-अँगुलियाँ
तुम्हारी वेणी को छू
खेलेंगी निःस्वर
दुबिधा संकोच भूलकर—
(वे होंगी भावांगुलियाँ भर !)

क्या तुम उनका मूल्य
ठीक से आँक सकोगी ?
उर के भीतर
झाँक सकोगी ?
आदर भी क्या दे पाओगी—
भू-नर का मन अनुभव-भोगी !

फिर, ऐसे अप्रिय प्रसग को
वृथा जन्म दूँ—
मैं ऐसा न कामना-रोगी !

तुम स्वतन्त्र भारत की
नारी हो नि सशय,
पर धरती की नारी अब भी
देह-बदिनी,—निश्चय !

रुका मनुज-जीवन विकास-क्रम,
छाया चारो ओर ह्रास-भ्रम !

स्त्री न काम-प्रतिमा से निखर
अभी बन पाई
शुभ्र प्रीति-प्रतिमा—
सौन्दर्य बोध श्री अतिमा !
गूढ विवशता
मन मे छाई !

मैं इस आशा
अभिलाषा से
धीरज धारे,
संयम से हूँ मन को मारे—

आनेवाली नयी पीढ़ियाँ
भू जीवन में
मूर्त कर सकेंगी
नारी में शुभ्र प्रेम को,
भाव क्षेम को,—

आज काम कबरी
जो नागिन सी बल खाती,
हृदय लुभाती ?
कल, वह बन
आनन्द सिन्धु लहरी
नाचेगी मुक्त पीठ पर !
कलुष दीठ हर !

भाव मुग्ध
भावी भू यौवन
खेलेगा
विषहीन नाग से,
प्रेम आग से !

सम्यक् बोध

तन से विभीत मन के वन म
जो करते रिक्त पलायन जन
वे जीवन ईश्वर के द्रोही
जिनमे विषण्ण जग का आँगन !

तन ही ईश्वर का विटप-धाम
आत्मा म जिसके मूल गहन,
प्राणो के कलरव से मुखरित
मन धूपछाँह जग का आँगन !

भू कर्म भूमि,—भव कर्म हीन
जो करते ऊर्णनाभ चिन्तन,
वे मनोजाल म फँसे मूढ
युग युग के मृत चर्वित चर्वण !

इद्रिय द्वारो से जगती का
जो करते नवयुग बोध ग्रहण
वे ही प्रबुद्ध मानव देते
भव क्रम विकास को गति नूतन !

नर तन आत्मा का रूप-बिम्ब,
वह ईश्वर का मंदिर सुंदर,
रचती तन्मय-रज भाव-सेतु
सित प्रेम विचरता नित जिस पर !

तन का तम आत्मा का प्रकाश
मिल, बुनते धूपछाँह जीवन,
भगवत् महिमा बनती रहती
चेतन से जड़, जड़ से चेतन !

रचना-प्रिय प्रभु, इंद्रिय-मुख से
गह दृश्य शब्द, रस गंध स्पर्श
नव सूक्ष्म भाव-वैभव जग में
भरते नित श्री-शोभा प्रहर्ष !

श्रम से त्रासित, वैराग्य-निहत
धिक् भस्म-काम जो निष्क्रिय मन,
वे ज्ञान-शुष्क-मरुस्थल में तप,
मृग जल पी, ढोते जन्म-मरण !

रूप गर्विता

तुम सुदर हो, सदेह नही,
सुदरता का अभिमान तुम्हे,
जो सुदर शशि-मुख का कलक
क्या इसका भी कुछ ध्यान तुम्हे ?

सौन्दर्य हृदय ही का सित गुण
जो होता तन मन पर बिम्बित,
लहरो पर करवट लेती ज्यो
शशि आभा सम्मोहन रच स्मित !

भावना भगिमा से झांके
ज्यों उषा झरोखे से मुकुलित,
कुम्हला ही जाता फूल-मास
अगो पर मत हो अवलम्बित !

जाओ, सुहृदो से मिलो सहज
उनका कर अभिनदन सस्मित,
सौहार्द द्रवित उर-शोभा मे
हो सीमित-रूप-अह विकसित !

त्रेता की पतिव्रता विदेह,
द्वापर की परकीया तन्मय,
तुम भावी की आत्मीया हो
इसमें मुझको न तनिक संशय !

तन का परिणय पावक कर्दम,
मन का परिणय द्वाभा-संशय,
आत्मा का परिणय ज्योति अंध
यदि हृदय न प्रणय सुरभि मधुमय !

आओ, मृद् तन से बाहर हो
उर सौरभ शील करो वितरण,
मन पंखों पर उड़ छुए विश्व
तन से बोझिल स्तंभित जीवन !

रूपसि, जो तुमको शोभा प्रिय
तन का तृण बोध करो अर्पित,
सित प्रेम देहरी लाँघ, बनो
उर सुषमा ज्वाला से मंडित !

मोह मुग्धा

दर्पण मे तिरते धूप छाँह
सर मे उठती लहरें प्रतिक्षण,
उर-मुकुर कपोलो पर पड़ता
मैं तेरे मन का सघर्षण !

आँखो से भी झाँका करती
अन्तर की भाव व्यथा गोपन,
जाने तू क्यो रहती उदास
मैं समझ न कुछ पाता कारण !

मत रूप-मोह मे प्राणो को
तू बाँध, निछावर कर तन-मन,
कैशोर व्याधि भर यह उर की,
क्षण रूप मोह निर्मम बन्धन !

तू भाव-साधना से वचित
जो देता राग जनित सयम,
आदान-प्रदान हृदय का कर
तू काट मोह-सुख का तम भ्रम !

सबसे मिल, मन का सौरभ पी,
उर को न किसी पर कर अर्पित,
जो फूल वृत से झर पड़ता
वह मुरझाता रज मे निश्चित !

सित प्रेम मोह से भिन्न, सुते,
रज-मोह लिपटता भर बाहर,
शुचि प्रेम डूबता अन्तर में,
वह बन्धन, वह चिन्मुक्ति अमर !

मिथ्या न, मोह—पगली बेटी,
ऋषि याज्ञवल्क्य के आर्ष वचन,
प्रिय आत्मनस्तु कामाय सदा
पति, स्त्री, सुत, सुहृद्, सर्व, धन, जन !

इन निखिल वस्तुओं में जग की
प्रिय आत्म-सत्य ही का वितरण,
स्त्री सुत पति प्रेमी सहचर पशु
आत्मा ही के सित पावक कण !

आत्मा का दर्पण पा उसमें
मत देख मुग्ध अपना ही मुख,
ईश्वर मुख बिम्ब विलोक शुभ्र
जो व्याप्त चतुर्दिक् दृग सम्मुख !

तन में सीमित मन मोह-भ्रांत
तन ही को करता आत्मार्पण,
तन से बाहर—मन आत्मा का
शोभा प्रकाश सुख का प्रांगण !

तू भाव-गौर देही में रह
श्यामे, नित बाँट हृदय-सुख क्षण,
बन भू जीवन प्रेमिका सुघर
कर मोह-मुक्त पथ पर विचरण !

उद्बोधन

ओ छाया-शशि भारत अबले,
तू छिपी-छिपी फिरती निर्मन
क्या तू न धरा की श्री-शोभा
कुसुमित जिससे जग का प्रागण !

पुरुषों से कट हट रहती क्यों,
क्या हृदय-हीनता का कारण ?
तू उच्च-बोध से पीडित या
लघु हीन ग्रन्थि से कुण्ठित मन !

पुरुषों के संग घुल-मिलकर तू
रख सकती क्यों न हृदय पावन ?
शोभा-प्रेमी के स्वप्नों का
प्रिय मुख भी बनने दे दर्पण !

तन-मन पवित्रता का प्रेमी
भारत नारी का अभिभावक,
मैं देह-भीत मन से न तुष्ट,
सित हृदय-मुक्ति का आराधक !

यह राग साधना का भू-युग
हो काम प्रीति-मख को अर्पित,
वे भाव-विकृत नर घृणा पात्र
जो शोभा-तन करते लांछित !

भू उर के तप्त उसासों को
होता संयम घृत से शीतल,
उर के प्रकाश में हो परिणत
सहजीवन क्रम में प्राणानल !

सह प्राण तड़ित् के स्पर्श शनैः
बन शुभ्र हृदय चेतना युक्त
इस मध्ययुगी भू-आत्मा को
पशु काम द्वेष से कर विमुक्त !

तन से विभीत मानवता से
जीवन विकास क्रम चिर बाधित,
स्त्री-नर भय से अघ में सनते
पाकर प्रतीति होते आहत !

सहजीवन आवश्यक मानिनि,
तन से ऊपर उठ पाए मन,
आत्मा का स्वर्ग-क्षितिज उर में
खुल सके,—धन्य हो भू प्रांगण !

उर की पवित्रता से तन भी
रहता पवित्र, यह निःसंशय,
यह आत्मा के प्रति अघ महान्
तन का मन पर छाया हो भय !

सित प्रीति यश स्थल निखिल सृष्टि
दिव-छवि स्त्री-नर के शुचि अवयव,
आनन्द जात भव सहजीवन
शोभा-मंगल का हो उत्सव !

ओ स्नेहमयी लज्जे, शीले,
वचि उर का नम्र निवेदन भर,
जन भू मन का कल्मष धो, मा,
हो प्रीति ग्रथित नव नारी नर !

विरहिणी

विरहिणि, युग अभिसार करो !
मध्य युगों के कुञ्जों से कढ़
नवयुग नारी बन निखरो !

श्री शोभा मन्दिर हो स्त्री तन
संयम तप के मन से पावन,
न्योछावर हो प्रेम डगर पर
भू यौवन को अंक भरो !

देह न रति से होती कलुषित
हृदय प्रेम प्रति जो सित अर्पित,
व्यक्ति रूप को तजो, मोह वह,
मनुज हृदय को अभय वरो !

विरह न सत्य, रूप-स्मृति-कुंठित,
आत्मज्ञान से रखता वंचित,
युगल प्रतीक पुरुष स्त्री का हो
हृदय-मिलन,—भव सिन्धु तरो !

हृदय एक रे, हों अनेक तन,
हृदय बोध को कर मन अर्पण,
नव युग श्री सीते, श्री राधे
जन-भू विरह-विषाद हरो !

जीवन पीठ बने जो अभिनव
शाश्वत मिलन धरा पर सम्भव,
नव्य मूल्य ऐन्द्रिक भू-मन गढ
धरा-स्वर्ग पथ पर विचरो !

घृणा द्वेष निन्दा का भू-पथ,
गडा पक मे आत्मा का रथ,
शप्त धूल को खिला फूल मे
बढो अभय, न डरो, न डरो !

बहता मित आत्मिक रस-सागर
भू मन पुलिनो को मज्जित कर,
तन के स्तर पर यह भगवत् रति,
देह-गेह मे रह न मरो !

हिम अंचल

बैठकर हिम-चोटियों पर
मौन, सित एकान्त गाता !

देखता सा नील का मुख
फिर धरा की ओर उन्मुख
सेतु सा वह स्वर्ग-भू के मध्य
शब्द-रहित सुहाता !

हिम शिलाओं तले शीतल
बह रहे जल स्रोत कलकल,
दृग् अगोचर,—वेणु हो
एकान्त निर्जन में बजाता !

बज मृदंग डिमिक डिमिक स्वन
चकित कर देते श्रवण मन,
हिम शिलाओं में छिपा नद
भेद सत्ता का बताता !

सूर्य किरणें सप्त रँग स्वर
गीत गातीं यहाँ निःस्वर,
शुभ्र उर एकान्त में
संगीत में गम्भीर नाता !

दूर जाती दृष्टि—निश्चल
शुभ्र घन हिम राशि केवल,
अकथनीय असग सित सुख,
समाधिस्थ स्वयं विधाता।

वसन्त

अह, कब से रुका विधुर वसन्त
अब झुका मुग्ध जन धरणी पर,
लोटता उमड़ आनन्द-मत्त
फूलों का गन्ध-फेन सागर !

भू से गिरि-शिखरों पर चलता
स्मित रंगों के चंचल-पग धर
दिङ् मर्मर के कर क्षितिज पार
नभ को बाँहों में लेता भर !

पीले मरंद की चंग उड़ा
दे रहा ढील गह मलय-डोर,
द्रुत कूद शिखर से धरती पर
दौड़ता लपट सा वन किशोर !

अब लतिकावृत वन-श्री का उर
जावक-अंगुलि नख से विक्षत,
झुक फुल्ल-भार माधवी-लता
रस ढीठ युवक सम्मुख पद-नत !

एकाग्र—गगन-से दिशा श्रवण,
सुन हास हर्ष कोकिल के स्वर,
पख ध्वनि भर कुसुमित सन्देश
देते उड अग्रदूत मधुकर !

अब बीजो के मुख म अकुर,
अकुर-करतल म नव किसलय,
किसलय वेणी म गूँथ फूल,
फूलो के मृदु उर मधुप निलय !

कितन छाया रँग के प्रवाल
रवि किरण तूलियो से चित्रित
प्रारूप दिगन्तो म अनन्त
ऋतु-सुषमा का करते अकित !

अब आँगन कचनारी अम्बर,
रोमाचित लगती अमराई,
पल्लव मासल मजरित धरा
वन वन पलाश लपटें छाई !

अतर का यौवन रे, वसन्त
वह सूक्ष्म भाव वैभव सुरभित,—
दिक् शोभा पी दृग निर्निमेष,
मधुचक्र जगत् रस-श्रम विरचित !

पावस

तुम भू-ऋतुओं की सम्राज्ञी
नभ से भूपर करती शासन,
राजोचित महिमा गरिमा से
दिव पथ पर चलता रथ दिक्-स्वन !

दिग् विजय दर्प से फहराता
अंबर में इंद्रधनुष केतन,
किरणों के सतरँग पुष्पहार
सुरगण विस्मित करते अर्पण !

तुलना न तुम्हारी मधुऋतु से
वह भू अँग भले करे कुसुमित,
सौरभ मरंद उच्छ्वासों से
जन मन का क्षितिज करे रंजित !

संतों को प्रिय हो भले शरद्
चेतना चंद्रिका से परिवृत,
हों मुक्त हंस करते विचरण
जल कमल पत्रवत् अंतःस्थित !

हेमंत शिशिर संकीर्ण हृदय
रीते वन आँगन के पतझर,
असि धार शीत स्वर सरित-मरुत
कँपते रहते तन मन थर्‌थर्‌ !

सुम जल-कुबेर, कृषकों की ऋतु,
उर मुक्ता लड़ियों से मंडित,
सुन पग ध्वनि भावाकुल जन-भू
होती शस्यों में रोमांचित !

विद्युत् रेखा सी तन तनिमा,
रखती अनिमेष नयन विस्मित,
भू के विपण्ण जीवन के क्षण
शत स्फुरणों से कर दीपित !

घन अंजन रेखा से, नभ की
नीलिमा दृष्टि करती मोहित,
उड़ती बलाक ध्वज श्वेत पंक्ति
दिक्‌ शांति पत्र लिखती हो सित !

सुन मंद्र स्तनित कँपते दिगंत
निश्चेतन होता समुच्छ्‌वसित,
हँस उठती पुलक प्ररोहों में
भू-रज नव बीजों से गर्भित !

आओ, श्यामे, सागर तनये,
झनका नव स्रोतों की पायल,
जग धरणी का संताप मिटे
भू अचल हो दिक्‌ श्री श्यामल !

शरद

अब हरी धूप से धुली दिशा
नीलातप का नव नभ मण्डल,
ओझल जाने कब हुआ रिक्त
तीतर-पंखी मेघों का दल !

विहगों के रोंए गहराए,
लहराए पंखों में नव रँग,
कलरव में सुख की चिनगारी,
उल्लास भरे पुलकों के अँग !

निर्मल जल, मचल रहीं लहरें,
कँपते दुहरे तिहरे प्रतिफल,
अब सरित धार में रजत वेग
बज उठतीं पुलिनों की पायल !

मत पूछो, वाष्प-शिथिल समीर
इठलाती कौश-मसृण चंचल,
गन्धों की तन्वंगी ऋतु को
बाँहों में भर मधुरज कोमल !

यह कौन किशोरी, नव गोरी,
जो हँस-हँस हर लेती जन मन,
मन से भोगा जा सका न जो
क्या वह शाश्वत सित यौवन-क्षण ?

ऋतु नहीं, सौम्य शशि-मृग पर चढ
फिरती अकलुष ज्योत्स्ना सुदर,
निज भारहीन श्री शोभा मे
चल पाती जो न कठिन भू पर !

यह वशी ध्वनि अपना स्वर सुन
हो उठी स्तब्ध, मोहित, नि स्वर ?
नव आस्था या जो उर को छू
करती जीवन का रूपान्तर !

पावस विषाद मिट गया,
स्निग्ध उर मे प्रहर्ष-जग उठा निखर,
छाया बनकर भाया प्रकाश
माया मे हो गुण्ठित ईश्वर !

पतझार

अब नरकुल के लंबे पत्ते
ताँबई रंग के मन भाते,
पीले पीले पतले डंठल
पागल बयार में लहराते !

दो पैरों पर खरगोश खड़े
फुनगियाँ नरम चुनचुन खाते,
भय से सतर्क दो उठे श्रवण
संकेत विपद् का बतलाते !

थल के जीवन की चल लहरी,
शंकित सी, रोमिल पूँछ फुला,
गिलहरी नाचती तड़ित्-स्नायु
पाकर सम्मुख मैदान खुला !

अँगुलियाँ राम ने फेरी थीं,
हो सदय, पीठ पर रोम-भरी,
इस जीव-जगत् की चपला के
अब भी स्मृति-छाप लगी गहरी !

चौकड़ी मारना भूल हिरन
चरते लेटे, तृण-चर, झँपझँप,
सींगों से छुआ परस्पर तन
सेंकते निभृत में स्नेहातप ।

खग-शावक पतझर आँगन में
उड़, फुदक, मटक, चुगते दाने,
मर्मर स्वर भर झरता तरुवन,
गाता अब उर न चहक गाने ।

तरु विरल टहनियों के पंजर
कँपते पीले दो-एक पत्र,
भू पर कृश छाया रेखांकित
रज-लुंठित मरकत शीश-छत्र ।

वन में ही नहीं, मनुज मन में
अवसाद कहीं गहरा छाया,
चेतना एक भू-जीवन की—
ठिठुरा जल, ठिठकी गिरि-काया ।

जीव बोध

बतखों की चिकनी पीठों से
चिपके गीले ओसों के कन,
वे पंख झाड़, ग्रीवा मटका,
करतीं प्रभात आतप सेवन !

पीली चपटी चोंचों से अब
फूटता भयार्त तरल गायन,
करुणार्द्र ककहरा जीवन का
रटता हो भूखा-प्यासा मन !

चितकबरा, राखी पृष्ठ भाग,
भूरे रँग के मटमैले पर,
खैरे रँग का उभरा सीना,
जल-थल से पंक उन्हें प्रियतर !

कीचड़ में चोंच गड़ा, चुनतीं
पोषण, जीवो जीवस्य अशन,
पतले झिल्ली के पंजों पर
चलतीं वे, पंकिल भू-प्रांगण !

कर्दम स्तर पर भी, ज्ञात उन्हें,
जिन अलख विद्ध जीवन-ईश्वर,
जो समा न सकता अग जग में
वह छिपा कीट के उर भीतर!

सापेक्ष जगत् यह निःसंशय,
सब मानों में स्थितियाँ विम्बित,
निश्चय ही वह निःसीम महत्
जो पग पग पर क्षण में सीमित!

खोज

अब फिर से
आकाश कुसुम को
शशक शृंग को
खोज रहे वंध्यासुत चिन्तक—
नए क्लीव दर्शन से गर्भित,
अहं समाधित !—
आत्म व्यथा की प्रसव वेदना
सह मर्मांतक !

छाया शब्दों का कोलाहल
मिलता नहीं समस्या का हल,
विश्व समस्या का कोई हल !
भय संशय के
धुंध धुएँ के घिरते बादल,
बढ़ते श्वेत चींटियों के
दल पर शतमुख दल !

विजित पड़ी श्रद्धा आस्था
धरती पर घायल,
सृष्टि पहेली,—नहीं कहीं हल,
कुछ भी तो हल !

मध्ययुगों के मूढ़
अंध विश्वासों से हो बाहर
विजय-ध्वजा फहराता
आता
अब आधुनिकता का युग रथ—

यंत्र-अश्व
भौतिक-चक्रों पर
बढ़ते युग-यथार्थ के पथ पर—

नव सारथि विज्ञान
ढीलता रश्मि
अनास्था की जन-दुस्तर !

अह, यह अणुबम, वह उद्जन बम,
छाया युग मानस में दिग्भ्रम !
अंध गली में धँसा बुद्धि रथ,
तन-मन रक्त-व्रणों से लथपथ,
व्यथा अकथ,
युग कथा अरथ !

इने गिने अस्तित्व शेष अब
सहते मूक अमूर्त क्लेश सब,
शून्य सत्य में मनोदेश जब
रिक्त अहंता ही अशेष तब,—

बिम्ब प्रतीक उभरते अगणित
संवेदना भंगि परिवर्तित,
कथ्य शून्य हो भले
कलात्मक शब्द-वेश अब !
रस न लेश अब !

बलिहारी, यह नव युग की छवि,
मैं न बन सका युग-स्रष्टा कवि,
जुगनू हो संगठित
चमकते बन नव युग रवि—
मनुष्यत्व पर
गिरा लाज पवि !

क्षणजीवी

हम अँधियाले वर्तमान क्षण ही मे रहते,
कटु यथार्थ का दश मर्म म प्रतिक्षण सहते ।
गहरी व्यक्ति व्यथा की गाथा गाते गोपन,
घोर ह्रास विघटन का क्रदन बनता दर्शन ।

स्वय जिए भोगे क्षण को कविता मे जीते,
घूंट मूक अस्तित्व वेदना विष की पीते ।
तुम कल्प के नव आदर्शों के गाने गाते,
ऊर्ध्व पलायन मिथ्या लोक-मन को बहकाते ।

रीते भावो सपने ग्थे लगाते फेरी,
चिडियो के रोमिल परो की हो मृदु ढेरी ।—
तुम यथार्थ की आँधी मे फू उड जाओगे,
आँख फेर युग कर्दम से थू मुड जाओगे ।

हम सवेदनशील, ढील देते जन मन को,
नैतिक हो कि अनैतिक ढोते जीवित क्षण को ।
सवेदन की ठोकर खाता मन पग पग मे,
वह अमूर्त वेदना दौडती अह, रग रग में ।

सहज स्फुरण का क्षण होता क्या गज भर लंबा ?
वह भी क्या थरहरा, ढला लोहे का खंभा ?
सृजन प्रेरणा होती जिन कवियों की लंबी
कलाकार वे नहीं, 'शब्द-सागर' भर दंभी !

उछल चटुल मछली जब जल के ऊपर आती
उस प्रयोग में वही नयी कविता बन जाती !
भावी कविता होगी सूक्ष्म तार की भाषा
अपने ही में खोए कवि से हो क्या आशा ?

चित्रों, बिम्ब, प्रतीकों की वह होगी शैली,
कथ्य-शून्य, रसहीन, मुक्त छंदों की थैली !
कौओं के हों चरण-चिह्न भू-रज पर अंकित
संवेदन भरते कविता में विद्युत् इंगित !

कहाँ समाज ? व्यक्ति सत्ता ही बाहर-भीतर,
सत्य मात्र व्यक्तित्व, बिन्दुओं का ही सागर !
मानव-मूल्यों का भी प्रश्न कहाँ पर आता,
आँख मूंद अस्तित्व स्वयं जब हमें चलाता !

आस्था किस पर टिके ? चतुर्दिक् बौद्धिक संशय,
मिटी न भोग-पिपासा, छाया धुंध, मृत्यु भय !
घोर अनास्था सच्ची पृथु भावी-पुराण से,
अंध अराजकता अच्छी जड़ विधि-विधान से !

तुम भविष्यवक्ता बन रटते भावी, भावी,
वर्तमान क्षण बुरी तरह नव कवि पर हावी !

सूरज और जुगनू

सहज भाव से बोला सूरज
स्व-प्रकाश—
तुम मेरे ही दीप्ति-अंश,
क्षण ज्योति हास !

अपने ही छोटेपन के
अज्ञात बोध से
भड़क उठे जुगनू
यह सुनकर !

छिड़े बरों-से सब घूम
अराजकता के
अंध वेग में,
चमके तुनक तमक वे,
सूरज को ललकारा,
किरणों को फटकारा !

(ओजहीन ललकार
चिनगियों-सी
अपनी ही
स्व लघुता में निराधार
बुझ गई स्वत)
दिनकर भी चुप रहा अत !

बोले क्रुद्ध जुगनू
सौ सौ आँखें तरेर,
हम अंश तुम्हारे ?
क्वारे छायाप्रभ स्फुलिंग
तम से भी हारे ?

अहंवीर, आलोक-हीर हम,
भव तम सकते तुरत चीर हम;
आत्मदीप, मणि ज्योति द्वीप,
निशि-तम प्रवाह में अडिग,
धीर हम !

जाओ, जाओ,
हट जाओ,
तुम व्यर्थ न दर्प दिखाओ !
हमें तुम्हारी
तनिक नहीं परवाह,
तुम दिन के,
तो, हम निशीथ के
ज्योतिवाह !

सूर्य अस्त हो गया,
सुनहली द्वाभा बरसा,
संध्या उर में
सूर्य सो गया !

हँसे ठहाका मार
तुरत जुट
झुटपुट में पटबीजन !...

निशि पथ निर्जन,
तिमिर वन गहन,
निवड पड दल बाँध
कूप नीडो से अपने
खोये सपने !

एक नाचन घूम घूम सग
युग भू तम म घूम घूम अग,
तडप, उगन्न ऊगे प्रकाश
धरा आँगन म !
नाचे तिमिर-कोयले पर
बैठ चिनगारी की
तितली-से,
उसको मुस्काने को
आनाविल
निज मन म !

चटुल स्फुलिंगा का हो जगल
ज्योति बिंदु खद्योता का दल,—
अधकार आँखो का बहरा
होता गया और भी गहरा,
और और भी गहरा—
खद्योतो का युग जो ठहरा,
युग जो खद्योता का ठहरा !

धरती

जन कर-स्पर्शों की ठहरी मैं,
        नव जीवन में होने पुलकित,
मा धरती, रज-प्रतिमा, जिसमें
        इतिहास जीव-जग का गर्भित !

मैं ठण्ढी सूर्य,—मयूख जाल
        रज रोम-कणों में अन्तर्हित,
पी आत्म ज्योति, आनन्द मूक,
        मैं जीवन-पीठ बनी विकसित !

मैं मनुज देह हूँ—सूक्ष्म स्नायु,
        जो स्वर्णिम भाव-विभव पोषित,
शस्यों से पशुओं, मनुजों तक
        भव एक सृजन सुख से प्रेरित !

मैं मृद् प्रतिमा ही नहीं,—
        विहग बन, उड़ती विस्तृत अम्बर में,
यह धरा चेतना—वितरित जो,
        जगती के निखिल चराचर में !

मुझमे हँसते फूलो के पल,
मुरझाता चेतन स्पन्द-रहित,
मैं जन्म-मृत्यु के पलने मे
जीवन तारुण्य झुलाती नित !

मैं मानवीय बन सकूँ—वन्य युग-
बर्बरता से उठ ऊपर,
मनुजो को ही सौपा मैंने,
जीवन-विकास दायित्व अमर !

शशि मंगल मेरे पथ सहचर,
नर उनसे हों कि न हो परिचित,
जन-भू जीवन-मंगल उनको,
सब से पहिले करना अर्जित !

पुरुषार्थ अजेय मनुज सम्बल,
उर लोक-प्रेम को कर अर्पित,
राष्ट्रो में बिखरी युग-भू पर,
नव मनुष्यत्व करना स्थापित !

भारत भू

यह क्षतियों की शोषित धरती,
जो जनगण की भारत माता,
बड़ा सदय औ' बड़ा निष्करुण
इसके सँग अह, रहा विधाता !

भूत-निशा में ज्योति-दिशा पा,
इसने परम तत्व पहचाना,
मृत्यु-सिन्धु तिर, अमृत पुरुष का
पाया शाश्वत ठौर-ठिकाना !

कहाँ रुक गया इस भू का मन,
धरती से उठ गए चरण क्यों ?
परम तत्व से ज्योति अन्ध हो,
शून्य ब्रह्म का किया वरण क्यों ?

सहज दृष्टि खो गई हृदय की
तर्कों मतवादों से जर्जर,
खड़ा रहा देखता सामने
खिसिआया सा जीवन-ईश्वर !

छील छील तन-मन प्राणों का,
ब्रह्म-तमस, जो आत्मा पाया,
उसको लेकर मन जन-भू पर
हाय, न पुन लौट कर आया !!

जो अखण्ड सित सत्य, हुआ वह
जगत्-ब्रह्म में द्विधा विभाजित,
रहा उपेक्षित विरागों से
सृष्टि-तत्व वरदान समाचित !

चिन्मय हुआ हृदय, पर वह क्या
जगदात्मा मे भी रस-तन्मय ?
जगत्-अयस को बना सका क्या
प्रेम स्पर्शमणि से सुवर्णमय ?

मुक्तामाएँ खद्योतो सी
भू-तम कर पाई न प्रकाशित,
रहा अपरिचित जीवित भास्कर,
जन भू-जीवन मे जो प्रसरित !

हुआ सृजन-सुख मे भी रत क्या
विमन, रसो वै स वा द्रष्टा ?
धिक् वह सत्य-बोध-असि, जिसने
खण्डित किए सृष्टि औ' स्रष्टा !

शत सहस्र जन-वर-पद मे कर
जग-निवास ईश्वर को विरहित,
अमृत-शक्ति के अमित स्रोत से
किया लोक-जीवन को वंचित !

अह, कब से यह भूमि पड़ी है
तन मन जीवन से क्षत-[illegible]त,
खड़ा पीठ पर पद-नत जन के
दारिद्र्यों का दुःसह पर्वत !

जीवन-मृत भू के नारी नर
रूढि रीतियों के जड़ पंजर,
पथराए जन ग्राम, विकृत
अनुकृति विदेशियों की हत नागर!

पुनः खुल रहे मुँदे हृदय-दृग,
मन समग्र के करता दर्शन,
प्राण-शिराओं में फिर गाता
नव जीवन शोणित भर स्पंदन !

ज्योति-तमस आलिंगन भरते,
माया-ब्रह्म प्रीति-संयोजित,
धरा धूलि से उगता ईश्वर
भाव शस्य संपद् बन विकसित !

बहिर्मुखी भौतिक भू-तम को
अन्तर्दृष्टि प्रकाश दान कर
शिव-समाधि से जगता भारत,
युग-भू-संकट गरल पान कर !

अमृत तत्व अन्वेषी भू, इसको प्रणाम,
यह कब निःसंबल,
भू जीवन प्रेरणा ही अमृत—
जो जन मन में भरती नव बल !

भारत गीत

जय भारत, जय स्वदेश!
जगी जहाँ सत्य ज्योति,
जगा दीप्त नवोन्मेष!

प्रथम सूर्य-दृग प्रभात
हँसा अमर रश्मि स्नात,
बँधे निखिल सचराचर
प्रीति-पाश में अशेष!

आत्म शक्ति में अजेय,
विश्व शान्ति परम ध्येय,
कर्म-तरुण, भक्ति-प्रौढ़,
ज्ञान-वृद्ध भू विशेष!

तम से पर जो प्रकाश,
जन-उर उसका निवास,
हृदय ध्यान-बोध मग्न,
पलक मौन निर्निमेष!

छाया दिग्-भ्रम ह्रास,
रुद्ध अब मनुज विकास,
शिविरों में बँटा विश्व,
युद्ध-नद्ध राग-द्वेष!

देख शत्रु बल-प्रमाद
करती भू सिंह नाद,
शौर्य वीर्य में अदम्य,
सजते सुत वीर वेश !
जय भारत !

जय गीत

जय भारत माता,
जयति ज्योति-स्नाता !
शान्ति-ध्वजा सा शुभ्र हिमालय
नभ में पहराता !

सुरधनु से घन-कवरी मलिन,
शरद-कला मस्तक पर शोभित,
शस्य हरित, मलयानिल सुरभित,
आँचल लहराता !

मन शिराओं में, तप-दीपित,
ऋषि-मुनियों का बहता शोणित,
आत्म तेजमयि, पद नत सागर,
गुण गरिमा गाता !

विश्वप्रेम, करुणा-ममतामयि,
शक्ति-पीठ, जीवन-क्षमतामयि,
सिंह वाहिनी, दुष्ट दमन हित,
चण्डी विख्याता

अभये, अरि-उर भय से थर थर,
अजये, बलभूत कोटि बाहु-कर,
मगल ज्योति, अमगल हारिणि,
जग जननी त्राता !

आक्रोश

अणु विनाश होने को भू पर
प्रकृति शक्तियाँ गातीं जय,
मनुज-इतर धरती के प्राणी
हँसते,—मन में भय विस्मय !

सुनता मैं डमरु-ध्वनि नभ में,
मरुत छेड़ते तूर्य-स्वन,
अग्नि जीभ चटकार रही, लो,
नाच रहीं लहरें शत फन !

कौन मरेगा ? युग भू की
क्षुद्रता, मनुज मन का तम-भ्रम,
त्वक् स्पर्शी सभ्यता मरेगी,
प्रलय सृजन ही का उपक्रम !

घृणा-द्वेष, अवसाद मिटेंगे
दर्प, शक्तिमद, संघर्षण,
शेष आज क्या सभ्य जगत् में ?—
घोर ह्रास कुंठा विघटन !

यदि प्रबुद्ध होता भू मानव
मनुष्यत्व से अभिषेकित
वह अणु उद्जन अस्त्र बनाता
महानाश मे अभिप्रेरित ?

यदि सस्कृत होता, असख्य क्या
पशु-जीवन करते यापन ?
दारिद्रयों के भूखे पजर
विवश बिताते दारुण क्षण ?

क्या कुरूप होता जन-भू मुख ?
कर्दम सना मनुज प्रागण ?
लोक-रक्त के प्यासे करते
जन का तन मन धन शोषण ?

भौतिकता के लौह-मच पर
युग दानव करता ताडव ?
क्रान्ति नही यह प्रगति नही—
अब जीवित कहाँ रहा मानव !!

मैं सित प्रकृति पुरुष का प्रेमी
अमृत प्रेम के जो अवयव,
नव मानवता मे हो मूर्तित
युगल हृदय का रस वैभव !

युध्यस्व विगतज्वरः

आओ, उधर चलें,
मानवता का सूर्योदय
जहाँ नहीं हो सका अभी !—
घन अंधकार की सीमाओं पर,
अहंकार के आरोहों पर !

मृत्यु खोह-सा मुँह बाए,
नथुने फैलाए,
तोपें जहाँ गरजतीं
दैत्यों-सी दहाड़ कर !
ज्योति पुत्र जूझते निडर
नेत्रांध तमस से !

रक्त स्नान कर रही धरा,
नभ आग उगलता,—
आँधी बिजली कौंध रहीं
काला प्रकाश भर !
लोहे के निर्मम पद
रौंद रहे करुणा का
सौम्य वक्ष
तांडव प्रहार कर !

स्वप्न पलक
नव आशाऽकांक्षा की
कलियों को
कुचल रहे भू-दानव प्रतिपग,
विस्फोटों की
क्रूर वृष्टि कर !

देख रहीं जो कलियाँ
स्मित अनिमेष दृगों से
नव मानवता का मुख
प्राण-हरित गुंठन से !

मत रो, मृत युग संध्याओ,
मत रो, रण खेतो !
मत रो, खलियानो,
मत रो, जीवन की ममते !—

यदि अरुणोदय को
ढँक लेता—लौह कपाट
नरक का भय-तम !
यह भी निश्चय
ईश्वर ही की
वरद कृपा है !

यह निःसंशय
जगदीश्वर ही की
महिमा है !—

युद्ध कर रहा जो
प्रकाश-धनु ले निज कर में,
चित् पावक शर बरसा
तमश्चर युग दानव पर !—

यह सचमुच ही
ईश्वर की
निःसीम दया है !

कौन भूत ये
कौन प्रेत ?
किन संस्कारों के
कटु कर्दम में पोषित
रेंग रहे युग-भू पर !

सर्पों-से गुंफित,
सहस्र स्वर
फूत्कार भर
छा लेते जो
मुख दिगंत का !

महासमर की तैयारी यह,
एक और भी महासमर की,—
मनुष्यत्व का महासमर जो—

करवट बदल रहा इतिहास
क्षितिज के तम को
रक्त-स्नात कर !

सभी युद्ध संघर्ष
एक उग्र महासमर के
अंग मात्र हैं,—
मानवता का महासमर जो!

मनुष्यत्व को स्थापित करना
जन धरणी के
कर्दम किल्विष के प्रांगण पर।

अत: लड़ो,
रो नहीं, अहंते,
व्यक्ति व्यथे,
विगतज्वर होकर
युद्ध करो—
निर्भय होकर
भय युद्ध करो,
नव भू जीवन,
नव जन मानव हित।

मनुष्यत्व के संग ही, निश्चय,
विश्व शान्ति
स्थापित हो सकती,
सृजन शान्ति
अर्जित हो सकती,
इस पृथ्वी पर।
तस्मात् युध्यस्व
भारत।

सूर्यास्त

कहते, सूरज अस्त हो गया !
सूरज कभी न उदय-अस्त होता
प्रिय बच्चो,
उसका उदय अनन्त उदय है !—
नये नये अरुणोदय लाता
जो भू-पथ पर—
नयी सुनहली किरण बखेर
नये क्षितिजों में !

सूरज अस्त नहीं होता है,
महापुरुष भी कभी नहीं मरते
प्रिय बच्चो,
मृत्यु द्वार कर पार
अमर बन जाते हैं वे,
और, युगों तक जीवित रहते
जनगण मन में !

मृत्यु गुहा के अंधकार का
द्वार पार कर
अगणित सूर्यों का यह कौन
सूर्य हँसता अब

भारत के आकाश-दीप में—
युग जीवन का नव प्रभात ला
भू आँगन पर ।

उदित हुआ स्वातन्त्र्य सूर्य नव
स्वर्णिम किरणों का जगमग
टँग गया चँदोवा
नील मुक्ति पर ।

नव जीवन आकांक्षा की
स्वर्गिक स्पर्धा से
तेजोज्वल अभिषेक हो रहा
तरुण अमर भारत आत्मा का,
शोभित जो फिर
भू जन मन के सिंहासन पर ।

अग्नि बीज बो रहा तिग्म
नव युग का सूरज—
ज्वाल पंख फिर नए प्ररोह
उगे जन भू पर,
मानवता के स्वर्ण शस्य से
हँसे दिशाएँ ।

नया ऐतिहासिक अरुणोदय है
यह बच्चो
घूम रहा वह अमृत सूर्य
अविराम धुरी पर

नव प्रकाश के घट उड़ेलता—
परिक्रमा करती जन-धरणी
ज्योति स्नात हो !

ओ गीता गौतम गांधी की
भू के बच्चो,
नव प्रकाश की किरणों के
मणि-स्तवक सँजो कर
भेंट करो
इन गुलदस्तों को
तुम जन जन को—

कभी न मुरझाने के ये
फूलों के गुच्छे—
इनसे मन का कक्ष सँवारो !
आत्म त्याग की अमर मृत्यु से
डरो नहीं तुम,
जियो देश के हित मर मिटकर !

वह अमरत्व भरी तन की रज
बरस रही अब
चिद् अंबर से
धरा धूलि पर—
गिरि शिखरों, सर सरिताओं
सागर लहरों से,
खेल रही वह—

लौट रही
भू के खेतों में,
नयी फसल बनने,
नर-रत्नों की पीढ़ी को
नया जन्म देने को ।—

नव आशा उल्लास, नयी शोभा सपद् की
जीवन हरियाली में,
अक्षय शौर्य वीर्य की
मरकत मंजरियों में
फिर फिर मुसकाने को ।

मृत्यु-अंध भय की खोहों को
आलोकित कर
एक समूचे वर्ग जागरित
लोक राष्ट्र की
आत्मा का रस सूर्य
सांस्कृतिक स्वर्णोदय बन
उदित हो रहा
अस्त कर तमस ।
मृत्यु सिंधु को तिर
मानवता का प्रकाश नव
उभर रहा
जन-भू जीवन के
युगल-तट पर ।

उसके मस्तक को छू
हिमगिरि ऊँचा लगता,
उसकी पद रज धो
सागर जल पावन बनता;
उसकी बाँहें
निखिल दिशाओं को समेटतीं—
उसका मानस
विश्व मनस बन
नव जीवन में मुखरित होता !

जन्म मृत्यु भीतो है,
अविनश्वर आत्मा का
सित स्फुलिंग बुझता रहता
फिर फिर जल उठने !

आकाशों की ऊँचाई में
अन्तरिक्ष के विस्तारों में
मनुज हृदय की
गहराइयाँ उद्वेल
निरन्तर
शांति सूर्य वह
भू को स्वर्णिम पंखों की
छाया में लिपटा
नव जीवन संदेश दे रहा
निखिल विश्व को !

ताल ठोकता रण दानव
युग शृंग पर खड़ा—
भौतिक युग का पशु
लोहे के पंजे फैला
बिजली की टाँगों पर दौड़
दहाड़ रहा है,
हिंस्र-लोहित मुखड़े से
कटु अट्टहास भर—
अणु बम का मोदक दबोच
बाईं मुट्ठी में!

सावधान, आनेवाली पीढ़ी के बच्चो,
सावधान, भारत के युवको,
राष्ट्रशक्ति के जीवन-स्तम्भो,
आज तुम्हारे ही कंधों पर
लेटा है यह अमृत पुरुष
द्यावापृथ्वी तर—
ध्यान-मग्न गौतम समाधि में!

योग्य बनो तुम,
वहन कर सको साहस से
दायित्व देश का,
नए राष्ट्र का,
नए विश्व,
नव मनुष्यत्व का!

संभ्रांत स्मृति

अनुपस्थिति में भी
अनुभव करता जनगण मन
एक उपस्थिति अब भी
अपने बाहर-भीतर !—
शांत, सौम्य,
चिन्मौन, अगोचर !

कोई ज्यों
नीरव रहस्यमय इंगित करके
पथ निर्देशन करता हो
जन का—अदृश्य रह !
एक हाथ उठ
लिखता हो ज्योतिर्मय अक्षर
जीवन की
अनबूझ समस्याएँ सुलझाने,—
वद्ध काल-करतल की
गोपन रेखाएँ पढ़ !

कैसा बीता एक वर्ष, अह,
दारुण सुंदर !

भूमि वप सा
दौड रहा रोमाच हृदय मे
जिसे स्मरण कर !

समाधिस्थ बैठा युग
ज्वालामुखी शिखर पर !
दुर्निवार कुछ रुका हुआ
प्रतिपल के पीछे—
पद-चापो की आहट सुन
बढने को आतुर !

उन्नत सिर अब भी हिमाद्रि,
पद धोता सागर,—
घिरा शत्रुदल मे
बल सचय करता भारत,
कांटो की झाडी मे खिल
हँसमुख गुलाब सा,—
खोस गए जिसकी स्मृति मे
आदर्श बना तुम—
शोभा के शाश्वत वसत से
हृदय मोहने !

पुन ग्रीष्म आया,
लौटा सताप हरा हो !
लोट रहे अधड भू रज पर
अध बवडर
ढँकते फिर नभ का मुख,
मारुत-अश्वो पर चढ !

किन्तु, धूलि के पर्वत को
निर्भीक लाँघ कर
एक शिखर-आकृति जगती
मन के नयनों में;—

धरा धूलि में मिला
तुम्हारे प्राणों का बल
जैसे, फिर साकार हो उठा हो
कण कण में !

गंगा लहरों से प्रतिक्षण
सित अंगुलि उठ कर
संचालन करती हो अब भी
भू जन का पथ,
हे जनगण मन के
अधिनायक !

घोर ह्रास विघटन के
भय संशय के युग में
अनाचार की बाढ़ रोकने
अंधकार का पाट चीरकर
ज्योति-तीर दिखलाती
निर्भय—लोक यान को,
निखिल विश्व मंगल से प्रेरित !

निज अक्षय आत्मा की
आभा से दिङ् मंडित,
सतत उपस्थित
मनोजगत् में,
तुम्हें नमन
करता नत जन मन,
प्रणत,
शत नमन !

हेनरी के प्रति

सिद्ध वीलियम फॉकनर-जैसे कलाकार ने
जिसकी आकृति चुनी, तूलिका के जादू से
जन मन पर अंकित करने, निज स्वप्न कक्ष में,—
कौन भाग्यशाली हेनरी वह ? कोई विश्रुत
भूपति, कोई संत, महात्मा, शूरवीर या
विश्व विदित कवि अथवा जन-प्रिय जन-अधिनायक ?—
विस्मय मूढ़ रहा अंतर, अनिमेष दृगों से
चित्र देखकर भाव-स्तब्ध हेनरी का अद्भुत !

सहसा मन ने कहा, नहीं, यह अश्रुत हेनरी
इन महानताओं से कहीं अधिक महान है !
मुग्ध कल्पना की आँखों के सम्मुख तत्क्षण
एक नया ही क्षितिज खुल गया मानवता का—
साधारणता जहाँ असाधारण लगती थी !
गत जीवन इतिहास-मंच की क्षुद्र यवनिका
अपने आप सिमट कर अन्तर्धान हो गई !
और, सहस्रों हेनरी, वन फूलों-से उग कर,
तारों-से खिल झिलमिल, हँसने लगे भीड़ में !

ज्यों समुद्र की बूँदों का अस्तित्व न होता
अपना, या व्यक्तित्व ही निजी,—वे सब केवल

सागर कहलाती, तुम भी महिमा गरिमा से
वंचित अपनेपन ही में ओझल अनजाने,
जगती के अस्तित्व के लिए अति महत्वमय
उपादान हो हेनरी, इसमें मुझे न संशय !

सरिता का थोड़ा ही सा जल फल फूलों के
मूल सींचता या पथिकों की प्यास बुझाता,
शेष अकूल अथाह प्रवाह अनंत काल से
छोर हीन पुलिनों में बह कर मुक्त निरंतर
सरिता को सरिता अविराम बनाए रहता !—
तुम भी अपनी राशि राशि साधारणता में
सृष्टि चक्र का गतिक्रम जीवित रखते अविरत

हे रहस्यमय किस अज्ञात कुल गोत्र वंश में
जनमे तुम ? इतिहास न जिसका भेद बताता
या दर्शन ही मूल्य न जिसका आंक सका है !
कौन वस्तु तुम ? कौन सत्य ? जग की समष्टि को
जो नित जीवन-गौरव देते मूक अनुदिन !
धन्य भाग वह जननी जिसकी पुण्य कोख ने
जन्म दिया तुमको आकुल हो अंक लगाया
कितनी महती आशा चिर अभिलाषा तुम पर
केंद्रित कर वह लोरी गा गाकर सुख तन्मय
नव जीवन पलने में रही झुलाती तुमको !
भले नहीं जग आंक सका हो मूल्य तुम्हारा
किन्तु हृदय की स्नेह-कसौटी में स्वर्णांकित
मूल्य तुम्हारा सर्वोपरि था मां के मन में !

घास-पात, वन वृक्षों के सँग बढ़ कर तुम नित
भू-अंचल को जीवन-मांसल रहे बनाते,
जग के दुख से द्रवित, मौन करुणा-ममता के
ध्रुव प्रतीक-से, तुम निश्छल मानव आत्मा के
प्रतिनिधि बन अज्ञात, अपरिचित, तुच्छ उपेक्षित,
जाने अपनी किस निगूढ़ सत्ता से, उर की
जीव-सुलभ समव्यथा शक्ति से जन-जीवन को
करते रहे प्रभावित सूक्ष्म अदृश्य रूप से !
विश्व सभ्यता के विकास को जीवित रखने
उसके रथ चक्रों से मर्दित हो प्रसन्न मन !

शिक्षित संस्कृत सभ्य जनों से कहीं श्रेष्ठ तुम,
जिसके उर को दया क्षमा ममता का स्पंदन
प्रेरित करता रहता, गूढ़ नियम संचालित,
जिसका मन न विषाक्त विश्व-वादों में खंडित,
आत्म त्याग ही ध्येय सहज जिसके जीवन का !
परवश, कातर, अति नगण्य,—निज प्राण शक्ति से
जगत-सिन्धु को रखते तुम जीवन-आन्दोलित;
हेनरी, आस्था के अदृश्य दृढ़ सूत्र में बँधे
तुम निश्चय निज दुर्बलता में भी अजेय हो !

नष्ट भले हो जाय विश्व-सभ्यता मनुज के
किसी पाप से—किन्तु अमर, अक्षय, पावन तुम
दग्ध धरा से हरी दूब-से उग फिर कोमल,
शील-नम्र, नत सिर, ईश्वर की अमृत सृष्टि को
जीवन का उपहार नवल दोगे स्मिति-स्वर्णिम,
नव प्रभात की दिव्य प्रतीक्षा में रत अपलक !

ध्वंस शक्तियाँ कार्य कर रहीं जिस युग-भू पर
जहाँ ह्रास-विघटन का तम छाया दिग् भ्रामक,
उसमें तुम अपनी सहृदय साधारणता से
विश्व शान्ति के, लोक प्रीति के सौम्य दूत-से
आश्वासन देते जग को अज्ञात रूप से!
नहीं जानता, नव जीवन रचना को उत्सुक
हिंस्र धरा कब सहज धन सकेगी मनुजोचित!
प्रिय हेनरी, निज मौन उपस्थिति से तुम अविचल
जग को रहने योग्य बनाते हो निःसंशय!

कौन तुम्हारे लिए बना सकता प्रिय स्मारक?
स्मारक हो तुम स्वयं महाजीवनी शक्ति के,
मानव की क्षमता के, प्रभु की मित ममता के,
लघु से लघु, अति महत् से महत्—अवचनीय तुम!

नयी आस्था

डार्विन के थे मित्र
एक पादरी महोदय !—
चिन्तित रहते जो उसके
आत्मिक मंगल हित !

और सोचते,
कैसे पश्चात्ताप रहित
प्रभु करुणा वंचित
नास्तिक आत्मा को
मरने पर शान्ति मिलेगी—
पापों के स्वीकरण बिना !

वे प्राय: आकर
डार्विन को उपदेश दिया करते,
समझाते,—सखे, चार्ल्स,
मुझको महान् दुख,
तुम प्रसिद्ध विद्वान्
सूक्ष्म अन्वेषक होकर
ईश्वर के प्रति विमुख,
धर्म आस्था से विरहित !!

कैसे होगा पापों से उद्धार
आत्म कल्याण तुम्हारा ?

डार्विन बात टालते रहते,
हँसकर कहते,—
पोप महोदय,
मुझको नही धर्म पर आस्था,
सच है,—
पर वैज्ञानिक आस्था
मुझमें भिन्न जीवनी-शक्ति प्रति—
सर्व शक्तिमय जो
असख्य जीवों का पर्वत,—

धरा-स्वर्ग के दिव्य स्वप्न सी
जो विकास पथ पर प्रतिदिन
मेरे मन की आँखों के सम्मुख !

पोप लौट पडते निराश हो !
डार्विन की अटपटी
अधार्मिक बातें सुनकर !

और, एक दिन
जब प्रात वदना शेष कर
दैनिक पत्र उन्होंने देखा—

छपा प्रथम ही पृष्ठ पर मिला
समाचार प्रिय डार्विन के
देहावसान का !

दया द्रवित हो उठा तुरत
पितृ हृदय पोप का,—
शोकपूर्ण वह समाचार पढ़ !
वे व्याकुल हो
झुके प्रार्थना करने नत सिर
प्रेतात्मा की शांति के लिए !

दिन भर
सहृदय पोप चित्त में रहे समव्यथित !
पुनः साँझ को प्रणत प्रार्थना कर
डार्विन की आत्मशांति हित,
भारी मन ले
लेटे वे सूनी शय्या पर
बार बार करवटें बदलते !

अर्ध रात्रि के बाद नींद में
उन्हें स्वप्न जो आया—उससे
हृदय-नेत्र खुल गए पोप के !

देखा,
सुहृद् चार्ल्स के मंगल से प्रेरित वे
उसकी आत्मा की रक्षा हित
नरक लोक में भी प्रयाण करने को उद्यत—

निकट रेल स्टेशन पर जाकर
टिकट ले रहे स्वयं विकट सातवें नरक का !—

और, टिकट विक्रेता
देख रहा विस्मय से
मान्य धर्म गुरु वृद्ध पोप को
लेते टिकट नरक का दारुण !

वे चुपचाप
बिना कुछ मन का भेद बताए
बैठ गए शापित गाड़ी में—
जोकि पापियों, अभिशप्तों को
महानरक पथ पर धकेलती !

प्रथम नरक का स्टेशन आया,—
चीख रहे थे जन के दुष्कृत
दंडित होकर,—
दारुण चीत्कारों से
कान फटे जाते थे !

नरक दूसरा आया—
लोहे के पहियों से
पिसते कटु निर्ममता से
आहत पापी जन,
नदियाँ बहती तिक्त रक्त की !

नरक तीसरा—
तप्त शलाकाओं से
छेदे जाते थे तन
भूख प्यास के मारे
दारुण दुरित-ताप में
तड़प रहे थे दुष्ट पातकी !

धार्मिक कट्टरता की कटुता
मूर्तिमान थी नरक रूप धर !

इस प्रकार,
रोमांचक दृश्यों से आतंकित
पहुँच सके जब पोप छठे दयनीय नरक में—
वे अधमरे हो चुके थे तब
नारकीय भीषणता से
मर्दित मूर्छित हो !

गंधक के पर्वत जलते थे
छठे नरक में—
घोर घृणित दुर्गंध वायुओं में थी फैली !
सड़े मांस के अंबारों से
गलित पीप की नदियाँ बहतीं
माखन सी ही गीली पीली !

काले कल्मष के
मोटे चमड़े-से बादल
छाए थे—

बिजली के पैने दाँत किटकिटाते
गिद्धों-से झपट रहे थे
जो दुष्कृत्यों से जीवन-मृत खल प्रेतों पर !

किसी तरह
इस त्रस्त भयंकरता से स्तंभित
गाड़ी आगे बढ़ी
सातवें अध नरक को !

सोच रहे थे पोप चित्त में
वहाँ पहुँचने से पहले ही प्राण पखेरू
उड़ जाएँगे स्वर्ग लोक को, निश्चय !
हाय, मित्र डार्विन की
आत्मा भी तो अब तक
नष्ट हो चुकी होगी
अंधकार में मग्न, विघटित हो !

व्यर्थ मोह में पड़कर मैंने
नारकीय दुर्दृश्यों का
दारुण दुख झेला !

किन्तु ट्रेन अब ज्यों ज्यों
लौह पटरियों पर चल
आगे बढ़ती गई—
नरक का दृश्य स्वर्ग में लगा बदलने !
चकित स्तब्ध हो मन में
पोप विचारने लगे !—

कहीं सुकृत्यों से बहु मेरे
दया द्रवित हो
प्रभु ने मोड़ न दिया यान हो
देव मार्ग को !
और, स्वर्ग में पहुँच रहा हूँ
मैं सदेह अब !
धन्य, परम पातकहारी
श्री प्रभु की करुणा !

इसी समय वे पहुँच गए
सातवें नरक में !
विस्मय से अभिभूत
उतर गाड़ी से तत्क्षण
पोप देखने लगे मुग्ध दृग
नरक लोक की श्री सुषमा, जीवन गरिमा को !

नंदन वन का दृश्य
दिखाई दिया सामने !
सुमनों की स्वर्गिक सौरभ उड़
नासापुट में घुस मन को मोहित करती थी !
स्थान स्थान पर
स्थापित थीं डार्विन की प्रतिमा !

पूछा अति आश्चर्य चकित
करुणार्द्र पोप ने—
'कौन स्थान यह ? स्वर्ग लोक क्या ?'

बोला नम्र स्वयं सेवक,
'जी, यही नया वह स्वर्ग लोक,
जिसके स्रष्टा
पतितों के सेवक प्रिय डार्विन हैं !'

'डार्विन ? कौन, चार्ल्स डार्विन ?
वह वह '
'जी हाँ, वे ही, जैविक वैज्ञानिक डार्विन !'—
उनको हतप्रभ देख, मुसकुरा बोला सेवक !

विस्मय मथित, पोप ने पूछा,
क्या मैं मिल सकता हूँ उनसे ?'
'जी, अवश्य'—सबके हित उनके द्वार खुले हैं !'

डार्विन उन्हे देखकर उछला,
हाथ मिलाया बन्धु पोप से,
गले लगाया सहज स्नेह से—
और, उन्हे विस्मय विमूढ पाकर
वह बोला,—
'कैसे तुम आ गए मित्र,
सातवें नरक मे ? ·
मुझसे मिलने ?
धन्य भाग हैं !

'जब मैं पहुँचा यहाँ
असूर्य लोक मे भीषण—
अघ तमस था छाया चारो ओर ! ·

पाप के भार से दबे
रेंग रहे थे कृमियों-से मृतजन कर्दम में,—
मन का बोझ असह्य घृणित था !

यहाँ न कहीं वनस्पति थे,
या हरित शस्य ही—
नगर नहीं, पथ नहीं, गृह नहीं,—
अंधकार के नभ के नीचे
प्राणहीन ठंढी हिम-धरती
पड़ी चेतना शून्य—महातंद्रा में मूर्च्छित !

मैंने शनैः निरीक्षण किया
निखिल प्रदेश का—मन की आँखों से !
चिन्तन-रत बुद्धि ने कहा,—
घबड़ाओ मत,
और अध्ययन मनन करो !

क्या भूल गए तुम क्रम-विकास सिद्धान्त
नरक भय से विमूढ़ हो ?—
जिसके तुम अनुसंधाता थे
मनुज धरा पर !

वैज्ञानिक का साहस
पुनः बटोरो मन में !
व्यापक सूक्ष्म दृष्टि से देखो
क्रम-विकास को !

वह जैविक ही नहीं
विश्व मन की आध्यात्मिक
पूर्ण प्रगति का भी द्योतक है !

क्षुद्र नरक ही तो प्रारम्भ
महान् स्वर्ग का !—
जो विकास पथ पर अब अविरत
भू जीवन मे !

नरक अचेतन अश धरा का—
उठो, सगठित करो शवो को,
वे मृत नही, भावना-मृत हैं !
उन्हे कर्म चेतना दो नयी
प्रगति मूल्य दो,
अधकार का करो
ज्योति मे नव रूपातर !
मानव ही तो प्रतिनिधि
भू पथ पर ईश्वर का !

वधु, देखते जैसा तुम अब,
धीरे,
अतर के प्रकाश से सचालित हो,
वैज्ञानिक श्रम को दे
सृजन दिशा विकास की,
यह निश्चेतन नरक
नए चैतन्य स्वर्ग मे
सित परिणत हो सका—
मुक्त धार्मिक पापो से !

इधर पोप को
मित्र चार्ल्स की बातें सुनकर
नहीं हो रहा था विश्वास
श्रवण-नयनों पर !—

स्वप्न जगत् में चौंक
सत्य के नव प्रभात में
सहसा उनकी आँख खुल गई !

पुरुषोत्तम राम

पुरुषोत्तम राम

राम, आप क्या केवल तुलसी ही के प्रभु हैं,—
रामायण या विनयपत्रिका तक ही सीमित ?
सच है, जनगण सेवक तुलसी, और आप
जन मन अधिनायक, स्वामी, सखा, सहायक सबके !
ऐसा शब्दों का शिल्पी, तत्वों का शोधक,
भारतीयता का पोषक, जन मन उद्बोधक,
रस-असि साधक, लोक काव्य का कुशल विधायक,
राम नाम सूर्योद्घोषक, द्रष्टा, स्रष्टा कवि
अन्य नहीं दीखता वृहद् हिन्दी वाङ्मय में !

चार शती तक जिसने पराधीन धरती के
जन मन को दी भाव दृष्टि, नव-जीवन पद्धति,
आत्मबोध, संस्कृत मर्यादा, कर्म प्रेरणा,
दुख दारिद्रय, अविद्या, भय के खल पाटों से
पीड़ित, मर्दित, खंडित जन को, भंगुर जग में,
दी अजेय आस्था ईश्वर पर—राम नाम पर !

मर्यादा पुरुषोत्तम, करुणा सिन्धु राम जी,
परम, पतित जन पावन,—जिनका नाम मात्र ही
स्वर्ग-मुक्ति सोपान अखंड, राम से बढ़ कर !
'उलटा नाम जपत जगु जाना', कहते तुलसी
'वाल्मीक भे ब्रह्म समाना !'—परम मन्त्र बल !

मध्ययुगों की पृष्ठभूमि में तुम्हें चीन्हकर
जन मन सिंहासन पर वे कर गए प्रतिष्ठित
भक्ति विनय, श्रद्धा आस्था, अनुराग त्याग से,—
प्रभु पद पद्मों पर हो पूर्ण निछावर, निश्छल
तन्मयता से! किन्तु, साथ ही, जन जीवन को
जकड़ गए यदि रूढ़ि रीति, जड़ परंपरा के
लौह नियति शृंखल में वे, तो करते भी क्या?

दुर्निवार सीमाएँ थी गत भू-स्थितियों की,
काल हो गया था स्तंभित स्थिर, उनके युग में,
जिसरे दिशा-विभव का संचय ही संभव था!
उनसा तन्मय भक्त और क्या होगा कोई?
रोम रोम हँस राम राम रटता था जिनका!
कृतघ्नता होगी, ऐसे जन मंगल कामी
कवि को हार्दिक श्रद्धा नहीं समर्पित करना!

कैसी भक्ति रही वह! जन मन प्रभु चरणों पर
प्रणत, गिड़गिड़ाता दानियों तक रहा निरंतर!—
प्रभु न हुए, विजयी सामंती भूपति कोई
घिरा चाटुकारों से जय जयकार मनाता!

कवे, सूत्र मानस में छोड़ गए अनजाने
आप, भक्ति आवेश द्रवित हो,—पापों के घट
नाम मात्र से पावन बन, भू जीवन पथ पर
बँध न सके व्यापक सामाजिक सदाचरण में,—
आत्ममुक्ति हित राम नाम रटते जिह्वा पर!
दुरुपयोग ही हुआ दया का दयासिन्धु की,
युक्त न हो यह सत्य-सिन्धु की सत्य-दृष्टि में!

रामचरितमानस से अधिक चाहिए जन को
रामचरित की जीवन-भू अब; आत्मा का ही
आँगन ऊर्ध्वमुखी जप-तप से बने न पावन,
भू-जीवन के स्तर पर भी संगठित हो सके
समदिक् आध्यात्मिकता, सामूहिक मंगल हित—
मिटे क्षुद्र दारिद्रय हृदय मन तन जीवन का !
माया मिथ्या रहे न जग, जीवन-ईश्वर के
इंद्रिय आत्मिक, व्यक्ति विश्व रूपों में कृत्रिम
रहे विरोध न; सुलभ अखंड सत्य हो जन को
पा समग्र चिद् दृष्टि जगत् जीवन विधान में !

रामायण का पाठ और काला क्रय विक्रय ?
जन घातक अघ कर्म, आत्म-मंगल की आशा ?
सामूहिक सदसत् चेतना अभाव व्यक्ति में ?
कैसे संभव हुआ ?—छिन्न कर दी हत आत्मा
जीवन से, मन से, जग से,—इंद्रिय-प्राणों के
वैभव के स्तर छील निखिल मानव-ईश्वर से !

भू जीवन निर्माण प्रेरणा मिली न जन को,
स्वर्ग मुक्ति की रिक्त खोज में, पाप-भीत मन
बना पारलौकिक; धर्मों के जड़ विधान में
बलि पशु सा बँध, आत्म पलायन कर जीवन से
जग से, जग जीवन के रस-मांसल ईश्वर से !!

गांधी की प्रेरणा हृदय-गत सत्य-बोध से
निर्गत हुई—धरा मंगल रत राम राज्य की !
मध्ययुगी आध्यात्मिकता का व्यक्ति-केतु रथ
ऊर्ध्वचरण उठ, रहा अधर में रुका, प्राण-हय
प्रगति न कर पाए बहिरंतर मंगल-पथ पर !

आत्म दरिद्र, चरित्रहीन क्या होती ऐसा
सोने की भारत-भू—,जो आध्यात्मिकता की
जननी रही जगत् की—यदि वह सत्य बोध से
स्खलित पतित, फँसती न मध्य युग के कर्दम में,
जीवन के ईश्वर से विमुख—अतीत कूप के
तम म मज्जित, दृष्टि शून्य आस्था से मर्दित !

आदर देता मन सर्वाधिक तुलसी ही को
सच्चे अर्थो मे जन कवि जो —मध्य युगो का
जन मानस समठित कर गए, मोह शोक हर,
विविध मतो का जन-भू-मन केन्द्रित कर तुममें !
किन्तु, मुझे तुलसी के राम न भाए उतने,
भरत भक्ति का उदाहरण भी नही सुहाया,—
सीता के पीछे न चित्त ही वन-वन भटका
खग मृग, गुल्म लता तरु सम्मुख अश्रु बहाता !

लक्ष्मण अच्छे लगे, वीर विनयी हनुमत् भी
तप पौरुषमय प्राणशक्ति क मूँगी पर्वत !—
यह मेरी ही भाव-दृष्टि सीमा हो !—यद्यपि
'जाकी रही भावना जैसी —अर्ध-सत्य भर !

किन्तु राम, यह सत्य, मुझे तुम रामायण से
नही मिले, तुलसी मानस मे रम न सका मन,
बाल्मीकि, अध्यात्म अधिक कुछ भाए उर को !

तुम तो स्वत अमृत निर्झर-से मरकत स्वर्णिम
जाने किस चैतन्य-शिखर से उतरे भीतर—
स्वर्गिक सौरभ-से समीर पखो पर वाहित
प्राणो मे बस गए, शुभ्र हीरक प्रकाश-से !—

जब प्रहर्ष-स्पंदित उर आकस्मिक अनुभव से
स्तब्ध हो उठा, आत्म-स्मृति रहित;—तुम अंतर में
बोले, 'मैं हूँ ! निर्भय हो ! छोड़ो सब चिन्ता !'
औ' शिख से नख तक सित चिन्मय भाव-देह धर
क्षण भर हो स्मित प्रकट, समा फिर गए हृदय में !

मेरे मन का वर्षों का चिन्तन का पर्वत
जिससे मैं उन्निद्र रोग से पीड़ित था तब,
पलक मारते, जाने कहाँ विलीन हो गया !—
कक्ष सूक्ष्म आलोक सिन्धु में डूब गया सब !...
अवचनीय क्षण ! कभी लौट आता फिर सहसा
युग-घातों से जब विमूढ़ हो उठता अंतर !

तुम अजेय संकल्प शक्ति, सित पौरुष प्रतिमा,
बाह्य प्रतीक सदार-वधू जिसके, दीप्त शांति-स्मित,
सौम्य तेजभृत, हरित कांतिमणि-से श्री मंडित,
उदय हुए थे रजत हृदय में ! चार दशक अब
बीत चुके सन् छासठ में उस दिव्य भाव को !
अमृत-पूर में ज्योति स्नान वह था चेतस का !

'मैं मानव का सहचर हूँ ! अंतस्थ हृदय में
व्याप्त सभी के, निज प्रियजन से अविच्छिन्न नित !'
बोले थे तुम ! प्रीति मुग्ध मन कह न सका था
तब कुछ : अब मैं कहता रहता तुमसे, 'स्वीकृत
सख्य मुझे, पर मुझको उसके योग्य बनाओ !'
निज लघुता के विकल बोझ से जब अनजाने

आँखों में आँसू भर आते,—तुरत रुष्ट हो,
कहते तब तुम, 'यह कैसा दयनीय भाव है ?
दूर करो इस हीन ग्रन्थि को। मुझे ज्ञान है,
क्या है क्षुद्र महत् की उपयोगिता सृष्टि में,
क्यों है द्वन्द्व जगत्। संयुक्त रहो तुम मुझसे,
और नहीं तप-खटना तुमको, स्वयं प्रतिक्षण
मैं पथ निर्देशन करता जाऊँगा। निर्भय
जूझो स्थितियों से, विकास क्रम में जो अविरत।
पाप पुण्य से भीत न हो, वे स्थितियाँ के गुण,
कौन क्षुद्र या महत्? जानते हो? मैं ही हूँ।
निखिल सृष्टि को देखो एक अखंड भाव में।"—
तब मैं जो अनुभव करता, वह नहीं कहूँगा।

तुम कहना अनुचित लगता, तुम मैं बन जाता,
वह कहना क्या संभव? मौन उपस्थिति ही का
अनुभव कर चेतन कृतज्ञता से भर जाता।
एक अगोचर अँगुलि पकड़े बौना मन तब
अनजाने ही कर्म जगत् की ऊँची नीची
तुमुल तरंगों पर चढ़-गिर नित बढ़ता रहता।
भूल न सकता उर उस भिन्न क्षण के प्रभाव को।

उससे पहले, मैं अबोध भावुक किशोर था।
पार्वती वन प्रकृति, अप्सरा ही सी सुंदर,
सध्यातप की कबरी छहरा गिरि आँगन में
क्रीड़ा करती छुटपन में मेरे संग चुपके।

हरित वनों की धूपछाँह गलियों में लुक छिप
आँखमिचौनी खेला करती, नव किरणों की
हँसमुख जाली डाले सद्यः स्फुट स्मित मुख पर !
हिम शिखरों के अंतरिक्ष सा घेरा रहता
मुझे शुभ्र एकांत—रुपहले शृंग सा स्वयं !
शिखरों से धरती पर नहीं उतरता तव मन !

निश्छल ग्राम निवास : नीड़ सा गिरि वन भीतर
भाई बहिनों के कलरव से मुखरित रहता;
स्नेह गभीर पिता, शिशु की प्रिय माता को खो,
अथक परिश्रम रत रहते परिजन-मंगल हित,
साँझ प्रात ही केवल घर के बीच उपस्थित !
पक्व केश, देदीप्य वदन, नय-सौम्य प्रकृति वे
देवदारु द्रुम दीर्घ—ध्यान आकर्षित करते;—
ऐसा ही देखा कनिष्टतम सुत ने उनको !

कौसानी की ग्राम पाठशाला में मेरा
शिक्षारंभ हुआ : वे कैसे मधुर वर्ष थे !
चिड़ियों-से ही चहक दिवस फुर् फुर् उड़ जाते,
उर में उड़ती रंग-पंख स्मृतियाँ बखेर कर !
पाठों से थी कहीं अधिक रुचि गिरि स्रोतों के
फेनिल कलरव में, वन क्षितिजों के मुकुलों में,
उचक, चौकड़ी भरते भूरे गिरि हिरनों में,
गुल्म झाड़ियों बीच फुदकते शिशु खरहों में !

वन तरुओं से घिरा बाल विद्यालय था वह,
बाहर ही लगतीं कक्षाएँ, वन स्तम्भों पर
टँगा, सुहाता स्वप्न-नील रेशमी चँदोवा !

दूर, सामने छानी की गरवन घाटी मे
रजत तलैया चमका करती हँस दर्पण सी !

कौसानी में मुझे साधु संगति भी मिलती—
सत समागम होता रहता तपोभूमि पर !
ऊर्ध्व हिमाल्य सन्निधि की पावन छाया मे
नैसर्गिक श्री सुदरता मे पले हृदय मन
विस्मित रहत, देख योग की ध्यान मूर्ति को,
नव किशोर मन की अबोधना से अनिरजित !
क्या जाने क्या कहते मुझसे पक्षी गाकर,
क्या कहती फूलों की भाषा, मौन हिम शिखर,—
मैं न समझ पाता अतर की भाव व्यथा को !

अल्मोडे मे आत्मबोध कुछ जागा मन मे,
द्वाभा की किरणें फूटी हो दृष्टि क्षितिज मे !
वहाँ माध्यमिक शिक्षा को पा शुष्क अनुर्वर,
मैंने अपने को, अपने ही मे निष्ठा रख,
शिक्षित करने का कटकमय पथ अपनाया !
शनै, न जाने कितने जन्मो की आकुलता
छदो की लय मे बँध कुछ आश्वस्त हो सकी !
मनन, अध्ययन, चिन्तन,—कैसे वर्ष गए वे !

'हार' कथा ही नहीं, चित्त का मानचित्र भी !
एक चील ज्यो मेरे सिर पर आ बैठी थी
तीव्र चपेटो से फिर फिर सशक्त डैनो की
सुप्त बोध जो मेरे मन का रही जगाती
नयी प्रेरणाओ के तडित् पख फडकाकर
बाल कल्पना को उडान भरना सिखलाती !

मैं खराद पर चढ़कर अंतःसंघर्षों के
उदयन कवि किशोर बन निकला षोडपांत में !

अल्मोड़े में कुछ विशेष स्मरणीय नहीं था,
कवि बनकर पूरा संतोष न था अंतर को !
भारतीय अध्यात्म-जागरण का युग था वह,
रामकृष्ण सी, रामतीर्थ औ' दयानंद सी
सित आत्माएँ भारत में अवतरित हुई थीं,
पौराणिक जड़िमा से मुक्त धरा-मन करने,—
आत्म-बोध के सूर्य-लक्ष्य से मन की आँखें
रहस चमत्कृत रहतीं, खोई चिदाकाश में !...
एक गूढ़ अज्ञात पिपासा जग मन-मृग को
भटकाती, दिखला सुदूर स्वप्नों की सरिता,
जग के मरुपथ की तृष्णा का ताप मिटाने !

वैसे मैं सम्पन्न घराने का बालक था,
घर से भी सम्पन्न अधिक था हृदय पिता का,—
कमी न थी कुछ मुझे, राज-प्रासाद तुल्य ही
पितृगृह—स्नेह, सुरुचि, सुख, संपद्, शांतिपूर्ण था !
किन्तु मुझे वैभव के लिए न तनिक मोह था;
कहाँ न जाने खोया सा रहता अबूझ मन,—
जगन्निष्ठ मनुजों से झेंप, झिझक, असंग रह !
समय-समय पर एक नया ही चेतस मन पर
उतर, बदल देता पिछली जीवन-परिभाषा,
नयी रजत आशा का उर में क्षितिज खोल कर—
पिछला मन बासी पड़ स्वयं विलय हो जाता !

अब वह सकता, मैं तब से ही तुम्हें अजाने
खोजा करता, आकुल-अंतर बाहर-भीतर !
'वीणा' मे स्वर सँजो हृदय के, बीच-बीच मे,
स्वप्नो से गूँथता प्रकृति छवि वेणी नि स्वर—
मात्र वही थी सुलभ मुझे प्रेयसी रूप मे !

कितनी ही गोपन अनुभूति हृदय को होतीं
सब-कुछ कहने मे सकोच मुझे होता अब,—
सभव, एक अदृश्य सुनहली भाव-श्रेणि थी
जिस पर मैं चढता अजान कर पकड किसी का,—
एक बार तुम आ, द्रुत अतर्धान हो गए,
वर्तमान मे कर अतीत-आकाल चित्त स्थिर,
बिना शब्द ही बता—जिसे त्रेता-द्वापर मे
खोजा करते, वर्तमान मे भी हूँ वह-मैं !
छाया सा सारा जग पीछे चला गया द्रुत,
मैं सम्मुख हो गया, पीठ पर गुह्य बोझ ले !

काशी और प्रयाग—तीर्थ स्थल यद्यपि दोनो—
मैंने सस्कृति केन्द्र रूप मे इनको जाना—
दोनों ही मेरे शिक्षक भी रहे असशय !
पर प्रयाग, जो सस्कृतियो का जीवित सगम,
वहाँ दूसरा जन्म लिया मेरी आत्मा ने
अत सलिला से अभिषेचित कर द्विज मन को !

यौवन का स्वर्णिम तोरण था खुला, किन्तु मैं
भीतर नही घुसा, बाहर ही रहा सोचता—
क्या जीवन, क्या जगत् ? कौन मैं, क्यो चिर सुख-दुख ?

क्या मिथ्या औ' सत्य ? कसौटी क्या दोनों की ?...
क्या सचमुच ईश्वर है ? है तो कैसा है वह ?
उमड़, अनगिनत प्रश्न, टूट कर टिड्डी दल-से
विस्मित करते, चाट शस्य फल चकित बुद्धि के !
उदय हुए थे जब तुम सहसा हृदय-शिखर पर
मन का पुंजीभूत कुहासा छिन्न-भिन्न कर !

संस्कृत वाङ्मय कूलहीन रत्नाकर सा जो
उसमें तिरना सीख यथाकिंचित् काशी में,
अधिक उच्च शिक्षा अर्जित करने जब पहुँचा
मैं प्रयाग में,—ग्रह नक्षत्र रहे होंगे शुभ !
विद्यापथ की शिक्षा में रुचि लेता था मन,
मैं अंग्रेजी कवियों के कल्पना लोक में
विचरण कर एकाग्र, शिल्प रुचि, कला दृष्टि के
ललित विभव से नव मुकुलित कर सृजन प्रेरणा,
सूक्ष्म भाव, सौन्दर्य-बोध में अवगाहन कर
अपनी काव्य-गिरा का युग-संस्कार कर सका !
प्रथम नयी भावाभिव्यक्ति के शोभा-'पल्लव'
फूटे तब मेरे स्वर्णिम कल्पना क्षितिज में !
किन्तु विजय यह रही कवि-यशःप्रार्थी मन की,
हृदय नहीं चरितार्थ कर सका अपने सपने,—
एक असंभव आकांक्षा से मंथित प्रतिक्षण !

जैसा सबको विदित तिलांजलि दे दी मैंने
विद्यापथ को, असहयोग में योगदान दे !
बहिर्मुक्त होने पर भी आत्मा की स्वर्णिम
रहस अभीप्सा रज्जु में बँधा—बंदी था मन !
सत्य ज्योति प्रति भावाकुल उर अनुभव करता

यदि मैं ऊपर उठकर अंबर से टकराऊँ
वह प्रकाश का सोत मुक्त कर देगा फट कर,
या धरती को यदि निज पैरो तले दबाऊँ
तो वह सिन्धु-गहनता मे रस-मज्जित कर द्रुत
मन को तन्मय कर देगी निःसीम शांति मे !

विद्यालय से यही अधिक भाया था मुझको
वातावरण नगर का—स्वप्नो से रोमाचित,
एक रुपहली शांति विचरती मुक्त वायु मे,
स्वर्ण-नील गोलार्ध-कलश हो उमी शांति का !

जन्मभूमि का सा सौन्दर्य न मिलता यद्यपि
यहाँ प्रकृति मुख पर, ऋतुओ की भाव-भगि भी
वैसी मोहक न थी,—न तरु लतिका अधरो पर
दीर्घ काल तक नवल प्रवालो की रगस्मित
छाया गुँथी सुहाती,—नव वसत दो दिन मे
ग्रीष्म-पक्व हो, दिक्-शोभा विरहित हो जाता !
प्रखर निदाघ, पहाडी हसग्रीव हिम ऋतु से
कही असह्य कष्टप्रद लगता,—यहाँ कहाँ वह
रोमाचित हिम-फाहो का सौन्दर्य बरसता ?
एक रात मे, दूध फेन मे धुल भू के अँग,
तूल धवल, माखन श्री कोमल—लज्जित करते
स्वर्ग लोक की सुषमा को,—हिम की परियाँ आ
हम बच्चो के साथ स्वय ऋतु क्रीडा करती !

किन्तु, एक शारद प्रभाव इस तपोभूमि का
मन मे उदय हुआ धीरे, कुछ ही वर्षो मे !—

एक सौम्य चाँदनी भावना की चुपके से
स्वप्निल उर से लिपट गई—चन्दन सौरभ सी
अंतः शोभा के मरंद-सूत्रों से गुंफित !
समा गया सन्तोष मौन हर्षित रोओं में,
गंगा की धारा में घुल मन की जिज्ञासा
बन निगूढ़ अनुराग, लगी बढ़ने समुच्छ्वसित,
कूलहीन सागर को करने आत्मसमर्पण !

कितनी ज्योत्स्ना स्मित रातें पलकों पर बीतीं,
मावस का गहरा अँधियाला उर में छाया,—
तर्कों, वादों, संघर्षों, कटु आरोपों के,
क्रूर आत्म विश्लेषण के पैने पंजों से
नुच-खुच, आहत हो निर्मम तम-कुंठित चेतस
वज्र शिला बन, पर्वत सा जम गया हृदय पर—
रस-तृषार्त खो गई चेतना बौद्धिक मरु में !

निभृत कक्ष में बैठा मैं दिन को मंथित मन
तंद्राहीन दृगों से खोज रहा था किसको ?
सोच रहा था 'सुख दुःखे (तु) समे कृत्वा···' पर,—
कैसे हो सकते सुख दुख सम ? कौन बोध वह,
कौन चेतना, जो सुख दुख से परे, आत्म स्थित !
मुझे स्मरण, मन तीक्ष्ण शूल की तप्त नोंक बन
मर्म छेदने लगा,···वेदना दुःसह थी वह !···
संशय-तम को चीर, जानने को हो विह्वल
कौन तत्व वह, कौन पुरुष या कौन मनःस्थिति,
जो सुखदुख, या हानि लाभ, जय अजय से परे !
(मैं था तब श्री म्योर रोड में, साथ बहिन के !)

जैसे मारी हो छलाँग जग मेरे मन ने,
(या तुम मन का धुंध चीर कर बाहर निकले ?)
पल के पल मे विला गया दृढ मथन पर्वत—
तिमिर छँट गया, प्रश्न घट गया, फद कट गया,
उर का उत्तेजित स्पदन भी शात हो गया !
तन्मय अतर मैं—क्या हुआ, नहीं कह सकता !
जन-भू की मागल्य-शक्ति तब उठकर ऊपर
मुझे खीच लाई धरती पर सित विस्मृति से !
आत्म बोध जब जगा, कह चुका हूँ पहिले ही
उदय हुए तुम हृदय-शिखर पर नव आस्था-से !

उसा बाद, न जाने कितने सकट पर्वत
मन पर टूटे, सघर्षों पर सघर्षों के
काले बादल छाए—भौतिक, मानसिक, आत्मिक !
समुच्छ्वसित ही रहा भावना का सागर मन !—
लगी चेतना अधिक ठोस जड वस्तु जगत से,
जो अब छाया सा दीखा दिक् पट पर चित्रित !

एक वर्ष के भीतर ही जीवन की आर्थिक
नीव अचानक खिसक गई ! राजा से बनकर
रक—विभव की पृष्ठभूमि से छिन्न मूल मन
मुरझा, मरने लगा, भाग्य की खर झझा से
वृहत् शून्य म गिर,—यथार्थ के तिक्त दश सह !

नए हाथ पावो से पार किया तब मैंने
उस सूनेपन के समुद्र को, ज्योति तीर पा !
मन ने वर्षों तक फैले जीवन-सैकत पर
बना मिटा स्वप्नों के बाल-घरौदे अगणित,

आँक भावनाओं के अस्फुट चरण-चिह्न नव,
संचित किया मनोवैभव सित, सूक्ष्म दृष्टि पा !
कौन बना नव कर-पद चेतस, नयी दृष्टि तव ?

वृद्ध पिता का स्वर्गवास भी तभी हुआ था,
मैं जिस वट की आशीःछाया में रहता, वह
सहसा अन्तर्धान हो गया—मेरे जीवन के,
किशोर मन के स्वप्नों को धूलिसात् कर !
जगत् रिक्त निःसार, चित्त हो उठा हतप्रभ !
अंधकार पर्याप्त नहीं पर्याय हृदय की
दारुण स्थिति का, रोम रोम करता था रोदन !

बोले थे तुम, 'क्या करते हो ? मृत्यु शून्य का
मुख पहचानो ! मानव आत्मा पर मृत दुख की
अँधियाली छाया मत पड़ने दो,—तुम मेरे
अमृत पुत्र हो !

'नित्य सत्य यह मानव आत्मा
मेरे मुख का सित दर्पण,—मैं जीवन प्रतिनिधि !
जिजीविषा से युक्त बनो ! बोलो, बाधा के,
रोग व्याधि, सुखदुख के खंदक लाँघ, अभय हो
जीऊँगा मैं, जीऊँगा,—आनन्द स्पर्श पा
आत्मा के आलोक, विश्व की सृजन व्यथा का,—
मातृ-प्रीति का स्वप्न,—सत्य यह सृष्टि अलौकिक !

आँसू झर झर बहे दृगों से, अधर तटों पर
स्रोत हँसी का उमड़ा तन्मय, अमृत घूँट पी !

मृत को अजलि देने हित बँध सके न कर-पुट,
मृत्यु कहीं भी न थी,—अनन्त उपस्थिति सम्मुख,—
मात्र अकूल चेतना सागर श्वास तरंगित !

क्रूर वर्ष के क्षुधित उदर में बारह परिजन—
भाई बहिनें, चाचा चाची, फूफी, दादी—
समा गए मन के सब प्रिय जाने पहचाने,
एकाकी जीवन के सूने सिकता तट पर
बिखरा साँसों के क्षणभंगुर स्वप्न-घरौंदे।
कहा हृदय ने चीर देह-संबंधों का तम,
मानवता क्यों न हो विराट् कुटुंब तुम्हारा ?. .
विश्व चेतना उतरी ज्योति-अरूप विहग सी
उर में तब नव युग स्वप्नों का नीड़ बसाने !

बीता यौवन का वसन्त वन के आँगन में
निर्जन टीले पर—कपि, सर्प, शृगालों के सँग,
आसपास था मनुज निवास न कहीं दूर तक !
कौन साथ था वन में मेरे तुम्हें छोड़कर ?
बर्हभार स्मित खोल मयूर नाचते नीचे
अमराई में, मन के नव कल्पना क्षितिज वन !
ज्वाला सुलगाते किंशुक वय-तप्त रुधिर में !

।

सुम ऊषा बन प्रात तरुओं के झुटपुट से
मुख दिखलाते,—कितना प्रिय लगता वह स्मित मुख !
उन्मेषित हो उठता वन-परिवेश देख तब

रूप तुम्हारा अकथनीय शोभा में गुंठित !
निर्जन दोपहरें असंग ही बीता करतीं
स्वप्नों की सुख स्मृति में—वन-झिल्ली सी झंकृत !

गैरिक संध्या कुशल पूछती आँगन में आ,
'ज्योत्स्ना' की जीजी, खग कुल मिल करता कीर्तन !
स्तब्ध रात्रि में, प्रायः खिड़की की चौखट पर
चिपका दिखता पार्श्व चंद्रमुख,—और नहीं तो
तारा बन तुम मुझे न दृग से ओझल करते,—
गुह्य मर्मरित वन्य निशा के रक्षक मेरे !

आम्र मंजरी वन रोमांचित, कोकिल स्वर में
प्रणय वचन कह, मधु सुमनों से गात्र अरूप
सँजो कर अपना, सौरभ स्निग्ध मलय वेणी में
हृदय गूँथ कर,—कितने गोपन संकेतों में
तुम अभिसार किया करते थे भाव-मनोरम
स्वप्नों के पथ से, अदृश्य प्रेमिका, सखी बन !
मौन गहन एकांत,—शांति के सित पंखों को
मेरे ऊपर फैला, मुझे हिरण्य डिम्ब-सा
सेता अहरह, स्नेह-ऊष्णता लिये तुम्हारी,—
नया जन्म देने मुझमें जीवन-विकास को !

तुम्हें विदित, क्या करता था मैं निर्जन वन के
हरित गर्भ में, समाधिस्थ हो रूप-चेतना के
अवाक् अन्तस्तल के स्वर्णिम प्रकाश में !
नयी दृष्टि पा मनः सिन्धु में खोजा करता

नव स्फुरणो, नव चैतन्यो की रत्नराशि स्मित
जहाँ वही तुम होते प्रकट नए रूपो मे
सग्रह करता उन मित स्वर्गिक उन्मेषो के
इन्द्रचाप रुचि अचि ज्वलित सौन्दर्य बोध को !
शनै चेतना बनी प्रमुख,—जागा स्मृति पट पर
निखिल बाल्य कैशोर्य कल्पना चित्रो मे शत !

चन्द्र पक्ष ही नही, कृष्ण पासो के दुर्गम
अधकार को भी मैं जिया, गहन वन मे खो,
भय सशय, दिग्भ्रम के दशन भोग विषैले !
धूपछाँह गुजन वन तब गाती मन की स्थिति !
नया सूक्ष्म गुण उतर विश्व चेतना गर्भ मे
आता जब भी, तुरन्त विरोधी गुण भी भू पर
लेता जन्म,—जूझ अभिनव गुण मूर्त हो नर्क !

जगज्जलधि मे जहाँ रत्न, मुक्ताफल, उज्वल
सीप शख है,—वहाँ ग्राह, तिमि, मकर नक्र भी
रहते दारुण, एक दर्प से स्फीत ग्राह ने
दैव कोप वश, ग्रस्त कर लिया विनत तुम्हारे
शिशु गजेन्द्र को, अपने तामस शक्ति पाश में !
गज का आर्त हृदय जब भय सशय मदित था
गोपन इगित कर आश्वस्त किया था तुमने !
एक दशक भर रहा चित्त तम से उद्वेलित,
हुए गुह्य आघात और भी मर्मस्थल पर,
रक्षा करते रहे हृदय के भीतर से तुम !

बोले, 'भटक न जाओ तुम प्रकाश पथ पर ही
रसच्छाया में लिपटे शोभा-प्रहर्ष की,
मुक्त कर दिया मैंने तुमको उभय पक्ष से !
ज्योति तमस, विद्याऽविद्या से मैं अतीत हूँ !'—
हँसता अंतर तीव्र व्यथा-दंशन सह-सहकर,
वर्षों मैं तुमता रहा जीवन का, मन का,
जग का गहरा तिमिर मनुज-चेतस पर छाया !

आते एकाकी विवण्ण क्षण भी जीवन में—
सलज पूछता तुमसे तब—मैं युवा हुआ अब,
कैसे सहे असह्य पुष्प-शर रज-जीवी तन ?
तुम अंतरतम में थे अंतर्वान हो चुके,
मन के पार कहीं से मन में उठती वाणी,—
'काम ? मुझे अर्पित कर दो वह प्राण-दाविर निधि,
सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य-जगत्
जिसकी परिणति भर !
अपने को कामुक मत समझो, दुखी न हो,
वह सृजन-कला का सित पावक, रज-दाह न कुत्सित !
शनैः प्रकृति गुण लय हो जाते मूल प्रकृति में !''
भाव-देह ही में भोगा मैंने भू-यौवन,
वंचित जीवन रहा रूप-मांसल स्पर्शों से !

हीरक दृष्टि मुझे दी तुमने, रूप-रंग की
छायाएँ लय होजातीं जिसमें सित लौ में !
मेरे बाहर ग्राम्या का विस्तृत दिक् पट था,
मूर्त दुःख-दारिद्र्य रेंगता रीढ़-हीन तन !

राग द्वेष, कटु घृणा उपेक्षा, क्रोध कलह के
धरा नरक पर नर-जीवन ककाल विचरते,
भूख प्यास के जर्जर पजर, घोर अविद्या
कर्दम मे डूबे, पथराए मृत अतीत-से,—
रूढि रीतियो के खल प्रेत, श्वास सचालित !

भू जीवन की गहन समस्याओ पर अहरह
सोचा करता मन,—कैसे हो राष्ट्र-सगठित
मध्य युगो के शोषित जन का बहुमत प्रागण !
आँखें भर आती सहसा भारत आत्मा के
मूर्तिमान मानस-खँडहर का परिचय पाकर !
सूख गई थी भू चेतना प्रतीक, तापहर,
नत मल्लिका गगा की धारा, केंचुल सी !
दूर दूर तक आँखो मे, तन मन जीवन के
पजर मे निष्क्रिय विराग की रेती छाई
आहत करती चेतन को दारिद्र्य मे अमित !
स्यात् नदबाबू इन गाधी की आकृति का
भाव स्फुरण हो, इन असख्य बौने मनुजो से
एक विराट् प्रबुद्ध अमर मनुजो का मानव
सबसे ऊपर उठकर छूता अतरिक्ष को,—
हिमाकार जन-भू के अधकार-पर्वत को
लाद पीठ पर, चढता नए विकास शिखर पर !
मन चिन्तन गम्भीर सोचता,—बहिसँगठन
अत्यावश्यक,—पर भीतर से भी मनुष्य का
रूपातर होना अनिवार्य, बदलना उसको
गत इतिहास,—नए चैतन्य-केन्द्र पर स्थित हो !

स्वप्न-मूर्त होती दृग-सम्मुख मानव भावी,—
तुम हँसकर कहते—'पैगंबर बनना है क्या ?'
मन उत्तर देता, 'पैगंबर ? उनके दिन
लद गए ! आज तो भू रचना रत विश्व चेतना
स्वतः मसीहा, सित विकास क्रम से उन्मेषित !
जीवन द्रष्टा पैगंबर प्रकाश वाहक भर,
दीप्त कर्म-शिल्पी, संयुक्त कुशल कर-पद ही
मानव भावी निर्माता, युग पैगंबर अब !
विहँस पूछते, 'तो कवि बनना तुम्हें इष्ट है ?'
कहता, 'कहीं मलय को सुरभित होना पड़ता ?
कविता तो प्रिय देन तुम्हारी स्नेह दृष्टि की !···
तुम जो भी चाहोगे मुझसे, मैं वह हूँगा,
मन अब कुछ भी नहीं चाहता तुम्हें छोड़ कर !'
मोटी बातें ही बतला सकता हूँ बाहर
अंतर की गोपन गाथा मुँह से न निकलती !'
तुम चुप रह कर मुझे छोड़ देते बहने को
विश्व चेतना सागर में युग-बोध तरंगित !

रोग व्याधि, सुख दुःख, उपेक्षा, घृणा, व्यंग्य भी
सभी भोगता मैं,—तुम साक्षी ही न अगोचर,
स्नेही भी बन, मुझे गहन भव आवर्तो से
नित उबार कर, नया कूल दिखलाते उगती
भाव-भूमि का ! निश्चय, सखे, निमित्त मात्र मैं,
ऐसा नहीं कि योग्य बन सका हूँ कुछ भी—
प्रिय, प्रीति मुग्ध कर तुमने बनने दिया न मुझको !

नगरों में भटका मन फिर युग-जिज्ञासा वश
जीवन-वास्तवता, भौतिक-यथार्थ से प्रेरित,—

अग रग-भारत मा भी वन, हुआ उपस्थित !
घोर ह्रास विघटन छाया था निखिल देश मे,
कुछ अतीत गौरव स्मृति स्तभ अभी जीवित थे,
कला शिल्प सस्कृति की झाँकी मिलती जिनमे !—
भारत छोडो आन्दोलन अब अस्तप्राय था
जन मन मे हिंसा विषाद फैलाता निष्क्रिय,
विश्व युद्ध था छिडा दूसरा,—वह्निजँगल वे
उद्वेलन तुम उर म गुम्फित करते अविरत !
नयी सूय-केन्द्रिय-सस्कृति का स्वप्न हृदय की
पलको मे तब जगा, पर न साकार हो सका !

मग तुमसे रहता यह ग्राम नगर जीवन का
अग नही बन सका पूर्णत , तुमको खोकर,—
प्रणत तुम्हारे महत् प्रीति पाशो के सम्मुख,
मनन तुम्हारी गुरु गरिमा से परिचित होते !
जो भी साधक रहा तुम्हारा, उसका सचय
उतर हृदय म आया स्वयमपि प्रथम दृष्टि मे,—
ऐसा ही माहेश्वर योग तुम्हारा होगा !

देश विदेशो म विचरा मन, विश्वात्मा का
परिचय पाने मानव आत्मा ही विश्वात्मा
निकली, सबके अतर मे स्थित एक भाव से !
मनुज एक ही है सर्वत्र, न किंचित् सशय,
जग के सार-सत्य से गढ तुमने मानव को,
किया स्वय को स्थापित उसम, निखिल विश्व ही
जिसमे सहज समा सकता !—तुम मित क्षमता हो
भू मानव की, विकसित होना जिसे तुम्हारी
सूर्य-दिशा मे !

आज धरा देशों-राष्ट्रों में
लौह-भक्त, कुछ द्रवित हो रही, विश्व रूप में
ढलने को, गल यंत्र सभ्यता के अनुभव के
प्रखर ताप से! किन्तु विविध जीवन पद्धतियों,
मूल्य-दृष्टियों, तर्कों वादों में खंडित वह
अभी भविष्योन्मुखी नहीं बन सकी,—प्राण मन
जड़ अतीत की अंध श्रृंखलाओं में बंदी;
गत इतिहास-पंक में लिपटे रेंग रहे जन
अधोमुखी स्थापित स्वार्थों के घृणित नरक में
भिन्न दिशाओं में, दल शिविरों में विभक्त वह;
मनुज-विश्व एकता, लोक समता के स्वर्णिम
सिद्धांतों के प्रति विरक्त, लघु भेदों में रत!

महा ह्रास संकट छाया जन-भू जीवन में,
मरणोन्मुख मानव-अतीत पद-स्खलित हो रहा!
कल जो भौतिकता विकास-गति की द्योतक थी
आज प्रगति अवरोधक वह,—दुर्जेय काल गति!
भौतिक वैज्ञानिक विकास के सँग मानव की
आध्यात्मिक उन्नति न हो सकी!

अंतर्जीवन
मरुस्थल सा अब शुष्क,—बोध-जल से मृग वंचित!
आणव रण भय से कुंठित मन अंध-अनास्था
संशय से हत जर्जर, कोरी बौद्धिकता के
भ्रांत भँवर में घूम, खोज पाता न दिशा-पथ!
(वर्तमान पश्चिम का दर्शन करुण निदर्शन!)
श्रद्धा-निष्ठा-शून्य-बुद्धि रचना-सुख वंचित,

जन समुद्र उद्वेलित, दैन्य निराशा पीडित
मज्जित करने को आतुर भू-मर्यादा तट।
हृदय हीन निर्दय नर महाधम हित तत्पर।।

नहीं जानता, मातृ-प्रकृति का शोषण कर
विज्ञान कहाँ तक जन-भू मगल का सवर्धन
कर पाएगा भौतिक वैभव के सँग ही
आध्यात्मिक सपद् का अर्जन मानव जीवन मे
स्वर्ण सतुलन ला सकता भू मानवता को
क्या सभ्य के सँग ही सस्कृत भी पृथ्वी पर।

जब हताश मन खोज न पाया समाधान कुछ,
बोले तुम, 'यह बाह्य चित्र भर काल-खड का।
मुझको देखो, मैं हूँ भीतर का मनुष्य,—मैं
भीतर का वास्तविक विश्व, बाहर के जग को
मेरी प्रतिकृति मे ढलना है। नाशहीन मैं।
मैं ही केवल सार-सत्य बाहर भीतर का—
विविध वस्तुओ, स्थितियो, घटनाओ, गतियो के
जग का सत्य समग्र।—न हो किंचित् निराश तुम
क्षुद्र बाह्य गणना से। मुझमे रहकर मुझमे
गणना सभव है क्या? मैं कैसे हो सकता
विगत युगो का राम-कृष्ण? यदि काल-मुकुर मे
मुझे देखना तो, मैं नव युग राम-मनुज हूँ।

क्या विज्ञान नही मेरी ही एक शक्ति है?
मेरी इच्छा बिना मनुज वैज्ञानिक होता?
आदि काल से बिश शती तक (हाँ, आगे भी)
क्या हो रहा जगत् मे, ज्ञात नही क्या मुझको?

मैं ही अष्टमुखी जड़ भौतिक जग का ढाँचा
बदल रहा हूँ वाष्प श्वास से, लौह पदों से,
तड़ित् रक्त गति से,—मिट्टी के मर्त्य पात्र में
चैतन्यामृत भर नव, अंकित कर भू-नर की
प्रतिमा में आध्यात्मिक भुवनों की श्री सुषमा,
मुक्त प्रकाश, प्रहर्ष,—शांति कामी मानवता
धरा-स्वर्ग रचना में निरत रहे जिससे नित !

जन्म ले रहा नव युग : मेरी धरा-योनि की
प्रसव-वेदना यह, आलोड़ित विश्व-सिन्धु जल !
ह्रास-विकास चरण भव-गति के;—जन भारत का
खँडहर मेरा ही निवास : मैं ही पतझर के
वन का नव जीवन-वसंत : मेरी पद रज से
निर्मित भू इतिहास, शिल्प संस्कृति की गरिमा !

मैं ही था गांधी,—भारत का संविधान भी,
मैं ही शासन, सेना, रक्षा दल देशों में !'
संप्रति, भू विकास की स्थिति से मैं ही अविरत
जूझ रहा अपनी अजेय संकल्प शक्ति से !
काल-रूप निज दिखा चुका तुमको गीता में !
मानव का सहयोग मुझे प्रिय क्रम-विकास हित !
धरा-स्वर्ग, इह-पर में मुझको करो न खंडित,
मैं ही ईश्वर-नर, जो तुममें बोल रहा हूँ !
महानाश भी कालहीन मेरे स्पर्शों से
पलक मारते जी उट्ठेगा,—सृजन-काम मैं !

भारत मेरे अंतर्मन का रणक्षेत्र है !
उसको नवयुग मानवता का बना निदर्शन
उतरूँगा मैं शुभ्र हिरण्य भुवन सा जग में

नया सांस्कृतिक तंत्र विश्व-मानव को दें!
सत्य अहिंसा मनुज प्रेम के अग्रदूत भर,
लोक-प्रेम ही सत्य, अहिंसा, शिव, सुंदरप्रद!
अत: जगत् से दृष्टि फेर तुम सबसे पहिले
अपने क्षुब्ध देश को देखो,—जो स्वतंत्र अब,
मूल्य न जिसने अभी चुकाया स्वतंत्रता का!

सदियों से शोषित जन, मुंडमतों में खंडित
जिन्हें न शासन का, न प्रशासन ही का अनुभव,—
लोकतंत्र प्रासाद वृहत् निर्माण कर रहे!
शेष न ऐसा कोई जन नायक समर्थ अब
दिशा दे सके जो पथों में भटके जन को!
या प्रबुद्ध द्रष्टा, जो रूढ़ि-पंक में स्तंभित
मृतक अंध विश्वासों के दिग्भ्रांत देश को
नयी दृष्टि देकर सामाजिक क्रांति कर सके!
कर्दम में फँस गया गहन युग-मानव का रथ,
सामूहिक सारथि को पथ संचालन करना!
कभी महत् चिद्-बिन्दु व्यक्ति उर में जाग्रत् मैं
आज लोक-चेतना सिन्धु में अभिव्यक्त हूँ!

अब भी मृत्यु-विभीत, कायरों, अघ-दग्धों हित
व्यक्तिमुखी साधना मार्ग मेरा न रुद्ध है
किन्तु, धरा प्रेमी, पुरुषार्थी, हृदयवान् जो
उन जन मंगलकामी मनुजों के हित मैंने
विश्व साधना का प्रशस्त नव पथ खोला है!

आमंत्रित करता मैं, आएँ, आएँ भूजन
लघु विवरों को लाँघ, राजपथ पर विचरें नव !
भू जीवन रचना कर, प्राप्त करें सब मुझको
लोक-श्रेय-आनंद-समाधित सर्व मुक्ति में !

नियति-कूप में गिरें न निष्क्रिय-मन विपण्ण जन,
संयम से सुख भोग करें सित भू जीवन का !
प्रकृति शक्ति मेरी, अक्षय यौवना, रूप-श्री,—
अपरा में जो परा, परा में भी सित अपरा,—
प्रथम स्थान जन-भू पर मेरी प्रिया प्रकृति का,
मैं द्वितीय, उसके पीछे प्रच्छन्न सृष्टि में;
इसी दृष्टि से भोगें जन जीवन-यथार्थ को
मुझसे रह संयुक्त, प्रकृति से ग्रहण करें बल !

मैं वैभव स्वामी, भू-जन हों वैभव मंडित,
श्री शोभा सम्पन्न, मग्न आनंद प्रीति में,
आत्मिक सित संपद् , चरित्रबल प्रति प्रबुद्ध रह !
अंतर्वैभव ही वैभव वरणीय मनुज हित !
रिक्त त्याग के मरु मृग अंध तमस में गिरते,—
जीवन का जो तिरस्कार,—मैं भू-जीवन प्रिय !

पुरातनों ने आत्मा के स्तर पर ही मुझको
पहचाना : चित् स्पर्श प्राप्त कर वे उसमें ही
तन्मय, लय हो गए, महत् आनंद वेग से
विद्युद् वाहित, अंतर्भावावेश समाधित !
मुझे मूर्त कर सके न वे मन प्राण देह में
पूर्ण अवतरित कर,—भौतिक जग के प्रांगण में
रूपायित कर सके न भू-जीवन गरिमा में !

प्राचीनों के लिए तत्व की सिद्धि अलम् थी,
जो अरूप उपलब्धि मात्र सित आत्म-समाधित !
सूक्ष्म अमूर्त बोध प्रेरित, मन की छाया में
वे रहस्यमय स्पर्श प्राप्त कर चिन्मय वपु का
मुझे खोजते रहे, खिंचे कृश ध्यान सूत्र से !

चिद् विद्युत् का अन्वेषण कर वे फिर उसको
जन-भू जीवन रचना हित कर सके न योजित !
धर्म रहा चिद्‌बोध केन्द्र—जन मन दीपों को
दीप्त न कर वह, उन्हें पाप परलोक भीत कर
भटका कर धिक् गया ऊर्ध्वमुख अधकार में,
दिव को भू से, ईश्वर को जग से वियुक्त कर !—
समदिग्-जीवन-हीन उन्नयन रिक्त पलायन !

महत् श्रेय नव युग को (जो परिसयोजन युग !)
पूर्ण रूप से वह मुझको वरने को आतुर
तन मन प्राण, वस्तु स्तर पर भी,—मनुज जगत् को
मेरी सत्ता के प्रकाश में ढाल, उसे मेरा स्वरूप दे !
आज प्रकृति की निखिल शक्तियाँ उसको अर्पित,
आँक सके मृण्मुख में वह मेरी चिद्‌गरिमा,
भू जीवन को चढा नाक पर मनुज-प्रेम के !—
विरज अरूप बोध से ही सतुष्ट न होकर !

सृजन प्रेरणा मैं, सर्जना मुझे सबसे प्रिय,
अभिव्यक्ति देता मैं उसमें निज विभूति को !
मैं वसत की आत्मा, जिसके अमृत स्पर्श से
सृष्टि-बीज अकुरित पल्लवित होता प्रतिपल !

मैं शोभा आनंद प्रेम की मंगल आत्मा,—
पतझर मेरी ऋण समुपस्थिति, ऋण नियमों से
परिचालित !—

पीले पत्ते पक, झरने ही में
सार्थकता अनुभव करते, समधिक संजीवन-
शक्ति खींचने में अक्षम; मैं जीवन तरु को
आत्मा के यौवन से नव मधु मुकुलित करता !
मृतक मृत्यु से (जो अभाव का रिक्त शून्य भर !)
जीवित मेरे भाव-शून्य से पोषित होते !
क्या होगा इस पथराए जग के अतीत का ?
महानाश कर रहा कार्य, रीता हो भव-वन,
मेरी अमृत उपस्थिति उसको नव जीवन दे,—
नए रूप-रंगों के क्षितिजों में विकसित कर
नए भाव-सौन्दर्य विभव किरणों से मंडित !

हिमकिरीटिनी की यह कैसी आज दुर्दशा !
हुए दो दशक अब स्वाधीन बने जन-भू को,—
भारी उद्योगों के सँग गृह-उद्योगों की,
कृषि-फल की कर घोर उपेक्षा नेताओं ने
कृषि-प्रधान जन-प्राण धरा की भारी क्षति की !
शिक्षा का गत ढाँचा, शासन की भाषा भी
बाह्यारोपित रही,—मानसिक दास्य भाव जो !
प्रांत-मोह में बँटे, राष्ट्र प्रति दृग मूँदे जन !

क्या कारण कटु अनाचार, रिश्वतखोरी का,
काले क्रय विक्रय का, दूषित विकृत खाद्य का ?
(अंतिम पाप कहीं संभव क्या किसी देश में !)

धनियों के नैतिक शोषण का फल यह निश्चय!
स्वार्थ लिप्त, मोहांध, देशद्रोही बौद्धिक जन
सत्ता प्रति जाग्रत्, कर्तव्यों के प्रति निष्क्रिय,—
जन-साधारण भेड़ों-से भयग्रस्त, अशिक्षित—
युग जीवन के प्रति अबोध, भू-भार हो रहे!

जो कुछ नव उपलब्धि देश की,—भेंट न सकी यह,
पहुँच न पाई जन तक, चोटी तक ऋण में
दबकर भी भू दशा के, इने गिने धनपति ही
पीनोदर उससे,—जन-मृग प्यासे मरु-भू पर!

राजाओं-से रहे मंत्री क्षुधित धरा के,
उच्च पदस्थों के ऊँचे नभचुंबी वेतन,
सुरा नालियों में बहती संपद् नगरों की!
मध्यवर्ग पिस रहा शासकों के कर-पद तल,
शेष प्रजाजन अन्न वस्त्र गृह से भी वंचित,
भाग्य भरोसे बैठे कोसा करते विधि को!
आज घास की रोटी भी न सुलभ जनता को
अर्ध नग्न तन, भग्न हृदय, जीवन ढोने को
विवश लोक मल-कृमि, दुर्गंध भरे घर आँगन!।

दोष भले हो यह शासन का, अनावृष्टि या
नक्षत्रों का, (नियति कूप मंडूक देश जन!)
पर यह सबसे बड़ा दोष उस महा ह्रास का
युग युग से जिससे शोषित-पीड़ित भू के जन,—
अंधों में काने राजा शासक भी जिनमें!

मुट्ठी भर बौद्धिक मयूर के पंख लगाए,
शिक्षा त्वच, सभ्यता चर्म ओढ़े विदेश का
का-का-का कर काक-बुद्धि का परिचय देते,
निज भू-स्थितियों प्रति अजान, भव-गति पारंगत !

आत्मा की रोटी से युग युग से वंचित जन
अंध रूढ़ियों, मध्ययुगी आदर्शों में रत,
झूठे जप तप व्रत, नहान के पंक में फँसे,
घुट्टी के सँग पी ढोंगी संतों की वाणी—
(जीवन मिथ्या, जग असार, माया, मृग-तृष्णा)
देह क्षुधा भी आज मिटाने में निज अक्षम,
पशु भी जिसकी पूर्ति सुगमता से कर लेते !!

आत्मा की सच्ची रोटी यदि मिलती जन को
जीवन प्रति अनुराग, धरा-श्रम के प्रति श्रद्धा—
सहजीवन देता चरित्र, संगठन आत्मबल,
सामूहिक संकल्प हृदय में भरता पौरुष,
भू जीवन-सौन्दर्य हृदय शोणित में गाता,
ईश्वर होता मूर्तिमान मानव-गरिमा में;
और न होते दैन्य ग्रस्त, अपदार्थ, पंगु जन,
बहिरंतर निर्धनता से पीड़ित, पिशाच-से !—
ज्योति-बीज आत्मा, जिसको भू-मानवता की
श्री समग्रता में होना ऐश्वर्य-पल्लवित !

भौतिक रोटी भले न आत्मा का प्रकाश दे
(इस युग की सभ्यता निदर्शन जिसका जीवित !)
आत्मा की सच्ची रोटी देती वह क्षमता
क्षुधातृषा कर तृप्त लोग जिससे जीवन की,

सामाजिक सास्कृतिक स्वर्ग-श्रेणी रचना कर
अर्थ-काम सपन्न सकल होते धरती पर,—
मनुष्यत्व की भास्वत गरिमा से दिङ् मडित !
आत्मा की रोटी प्रतीक तन मन जीवन को—
अभय आज देता भारत भू के देशो को
युग के उद्वेलित समुद्र मे ज्योति-स्तम्भ बन !

किन्तु, हमे क्या मिली धरोहर मध्य युगो से ?—
गोहत्या प्रतिरोध छिडा आदोलन भू पर,
धर्मों के ककाल जो उठे विगत युगो के
भारत के तापस समाज को बना अग्रणी !—
उदर निमित्त बहुरूप वेशा साधु अधिकतर
परपरागत जटा श्मश्रुधर, गुहा निवासी,
गुह्य शक्तियो के पूँजीपति, ढोगी साधक,
शोषण करते जन का, मन को वशीभूत कर !
ईश्वर से वे दूर, दूर भव श्रेयस से भी,
जीर्ण सप्रदायो के पथराए जड पजर,
आत्म मुक्ति के मरुमृग, बाधक लोक मुक्ति के,—
बने खिलौने विफल, विरोधी दल के कर मे !

स्वार्थ, शक्ति, पद तृष्णा प्रेरित राजनयिक दल
युग प्रबुद्ध नागरिक कहाते दर्प मूढ जो,
भूसी के मस्तिष्क, विगत पथो के नेता,
मृत अतीत चर्वण की करते अभी जुगाली !
स्नायु रुग्ण त्वक्-पवित्रता के पीछे पागल
मध्ययुगी मानस, विरक्त, निष्क्रिय, विधि पीडित !

साधु रहे अब कहाँ साधु ? गैरिक ठठरी भर,
रिक्त निखिल अध्यात्म ज्योति से, अंधकूपवत् !
जीर्ण साधना पद्धतियों के ऊर्ण भरे स्वच,
भाँग, चरस, गाँजा पी रहते मदिर समाधित !
ध्वस्त कर्म, वैराग्य ठूँठ, दायित्व विरत वे
क्लीव दीमकों के वल्मीक—चाटते जन मन !

कभी सत्य प्रेरणा मिली इनसे भूजन को ?
लोक-कार्य में हाथ बँटाया कभी इन्होंने ?
या स्वातन्त्र्य समर ही में ये भाग ले सके ?
आज शंकराचार्यों को लेकर आए ये
अनशन का ले अस्त्र, अनुर्वर लक्ष्य-सिद्धि हित,
मृत गायों की हत्या को रोकने एक स्वर !
धर्म कार्य यह ? धिक्, ये उतने दूर धर्म से
जितना ईश्वर भी न दूर इन दिङ् मूढ़ों से !

नत मस्तक मन अब भी उनके सम्मुख, भू पर
भगवत् प्रतिनिधि, जन शुभचिन्तक जो योगीश्वर !

चमत्कारवादी जन का दिग् भ्रांत देश यह,
जो कंचन-मृग-छली साधुओं प्रति आकर्षित,
फोड़े विद्याहीन देश की मनोविकृति के
विमुख जनों को करते जीवन से, अतीत के
मृत संदेश सुनाकर, कंचन घट में विष भर !
क्या कर सका सशक्त तांत्रिकों का गढ़ तिब्बत
जब पद मर्दित किया उसे उद्भ्रांत चीन ने ?

मत्र तत्र हो भले ऊर्ध्व सोपान चित्त के,
भू-जीवन ही ईश्वर का घर, भू-जीवन ही
ईश्वर का घर, मुझे न सशय,—उसे सगठित
निर्मित, सस्कृत करना होगा सर्व श्रेय हित !

मध्ययुगी भारत का कुठित उपचेतन मन
उमड रहा अब बाहर, जर्जर गो पजर-सा,
सीग शकराचार्यों के भी उग आए, लो !
रँभा रहे सब पूँछ उठाकर—गोहत्या को
बद करो ! दारुण दुकाल से ग्रस्त सहस्रो
लाखो मनुज भले मर जाएँ, किन्तु धर्म की
ठठरी गाएँ बची रहे ! हम भारत के जन
मा की ठठरी की पूजा को धर्म समझते !
पूँछ उठा, फुकार छोड, ये गोमाता के
बछडे खोद रहे जीवन-अनुशासन की जड,
पटक खुरो को भू पर, नथुने फुला क्रोध से !

इगित करता भारत का चैतसिक विलोडन—
राजा नही रहे, न शकराचार्य रहेंगे !
लदे महतो सामन्तो के दिन भारत मे !
लदे मठाधीशो, हठधर्मि मताधो के दिन !

जीर्ण धर्म की केचुल डाल, निखिल मगल हित,
आध्यात्मिकता आगे निकल गई नि सशय
अधी आस्था के गोपद-बिल से बाहर हो !

मन के, आत्मा के स्तर पर साधक भारत ने
किये पर्वताकार उच्च आदर्श प्रतिष्ठित,
जीवन स्तर पर लँगड़ाते जो भू-लुंठित हों !
जीवन की साधना चाहिए आज जनों को
जीवन के आदर्श महत् हों भू पर स्थापित,
जीवन-भू को त्याग, रिक्त गत आदर्शों को,
प्राणों से सींचना पलायन मात्र खोखला !—
व्यक्तिमुखी मन वरे विशद सामूहिक जीवन !

हम गोहत्या रोक रहे क्यों ? यह चुनाव का
विज्ञापन क्या ? या हम जीती ही गायों को
खाने के अभ्यासी अब ? क्या नहीं दीखते
भारतीय गायों के पंजर ? मांस कहाँ है
उनके तन पर ? कौन खा गया ? क्या न उपेक्षा
गोपूजक की ? हाड़चाम की ठठरी ही क्या
भारत की जर्जर गोमाता ? लज्जा से सिर
झुक जाता ! खाने को आज नहीं चारा भी,
बेचारा गोधन !! मनुजों तक को अब दुर्लभ
घासपात की रोटी, कंद-मूल कानन के !

क्या न दूध भी श्वेत रक्त ही अस्थि शेष इन
चीनी आकृतियों का, जो कूड़ा खा रहतीं !
गोहत्या ही नहीं हमें गर्दभ हत्या भी
स्वीकृत नहीं अकारण,—यह आत्मा की हत्या है,
मध्ययुगी खल आवेशों के प्रेत जगाकर
जनगण को निज स्वार्थसिद्धि का लक्ष्य बनाना !

कहाँ रहा तब भारत-मन का गैरिक-पंजर
साधुवर्ग ? जब भारत माता अपने बन्धन
छिन्न-भिन्न करने को आतुर थी, सदियों की
लौह शृंखला में जकड़ी, लज्जानत मस्तक !
कभी किसी भी लोक यज्ञ में प्राणाहुति दी
परजीवी, जग से विरक्त, भू-भार साधु ने ?
गोहत्या प्रतिरोध हेतु जो आज सामने
आया कर में ले त्रिशूल ? यह मध्य युगों का
वन जीवी बर्बर, अपरूप खड़ा पिशाच सा !
ईश्वर इनके साथ नहीं—संशय न मुझे अब,
ये उपचेतन प्राण शक्तियों के साधक भर !

क्या ऐसे दुष्काल के समय, त्राहि-त्राहि जब
करती धरती, हाय, हाय करती सब जनता
लक्ष लक्ष ये उत्तेजित तापस-नागरजन
'चलो गाँव की ओर'—नहीं नारा दे सकते ?
भूखे-प्यासे आत्मघात हित तत्पर जन के
क्या न सहायक बन सकते दुष्काल के समय,
उन्हें मानसिक भौतिक भोजन देने के हित—
जन-भू का बल एकत्रित कर सत्प्रयत्न में,
तरुणों के शोणित का भी पथ-निर्देशन कर ?
क्या न जूझ सकते शासन से—शीघ्र अन्न जल
पहुँचाने के हित अकाल पीड़ित गाँवों में ?
निश्चय, यह कोरा चुनाव ही का नाटक है !—
गोवध के परदे में जनहत्या का नाटक,
पर दु:खात,—शक्ति लोक-सेवा में मिलती !

गोमाता का प्रेम न यह ! उसका शोणित भी
पीकर यदि हम राज्य कर सकें, तो तत्पर हैं !

धिक् यह पद मद, शक्ति मोह ! कांग्रेस नेता भी
मुक्त नहीं इससे,—कुत्तों-से लड़ते कुत्सित
भारत माता की हड्डी हित ! आज राज्य भी
अगर उलट दे जनता, इतर विरोधी दल के
राजा इनसे अधिक श्रेष्ठ होंगे ?—प्रश्नास्पद !
क्योंकि हमारे शोषित शोणित की यह नैतिक
जीर्ण व्याधि है !—
आत्मानं सततं रक्षेत,—प्रसिद्ध उक्ति है,
जग प्रति विमुख, आत्म उन्मुख रहने ही में हित !!
अंधों में काने राजा की नीति इसलिए
हमें अनिच्छापूर्वक सहनी, अंधे युग में !—
जिसे बदलने जो कटि बद्ध हमें अब रहना !

बिना शांति, अनुशासन के इस मरघट भू पर
(जोकि साधना भूमि रही शव साधक युग की !)
कहीं नहीं कल्याण दीखता ! गत नर-भक्षी
कापालिक दीक्षा अब भी जीवित शोणित में !
लोक क्रांति के लिए नहीं तैयार धरा जन,
लूटपाट से, अग्निकांड से, मारपीट से
क्रांति नहीं आ सकती,—बिना महान् लक्ष्य के !
रक्त विप्लवों से शिक्षित होते न कभी जन,
प्रतिक्रियात्मकता से प्रगति न सम्भव भू पर,
भले अराजकता के भय-सन्ताप भोग नर
शील भ्रष्ट, अनुशासन हीन, नष्ट हो जाएँ !

फिर भी, कोई हो भू-शासक, वह समर्थ हो,
युग प्रबुद्ध हो, दूरदर्शिता से परिचित हो,
तोड़ सके वह मध्ययुगों की रीढ़ धरा की,
कृमियों-से रेंगें न धरा जन, ऊर्ध्व-मेरु हो,—
नवयुग आभा से चुंबित हो गौरव मस्तक !
रूढ़ि रीति से ग्रस्त, पाप संत्रस्त न हो मन,
देख सकें जन ईश्वर को चलता युग-भू पर,
गांधी की आत्मा हो मुक्त,—धरा में वंदी !

कोई भी हो शासक,—उसको मध्ययुगों के
अस्थि-शेष भारत को युग-मांसल करना है,
अंध रूढ़ियों में पथराए मृत अतीत को
छिन्न मूल कर, नव जन जीवन की गरिमा से
मंडित करना है भू-खँडहर ! युग युग के मृत
विश्वासों, कटु रागद्वेष के विष-दंतों को
तोड़ जाति वर्णों से, छुआछूत से जर्जर
जीर्ण संप्रदायों को भू से झाड़-पोंछकर
राष्ट्र चेतना में दिङ् मुकुलित करना जन मन !

जो भी हो शासक, शनियों के अनाचार को,
क्षुधातृषा, दारिद्र्य अविद्या, दुःख निशा को
उसे मिटाना,—पू किलन्न, दुर्गंधपूर्ण, हत
धरा व्रणों पर लेप लगा नव मनुष्यत्व का !
लौह-पदों से उसे रौंदनी मनोविकृतियाँ
रीति-नीति के नामों से जो पूजी जातीं,—
प्रजातंत्र का अर्थ न यह, जन मुंड-भिन्न हो
स्वार्थ सिद्धि के लिए अराजकता फैलाएँ,
नष्ट-भ्रष्ट कर कष्ट साध्य जन-भू की संपद् !

सत्-शासन का अर्थ न यह, जनता के सेवक
सम्राटों-से रहें, उच्च वेतन भोगी बन !
निखिल देश की सुख-सुविधाओं को अधिकृत कर
राज्य करें जीवन-मृत हड्डी के ढाँचों पर !
घोर विषमता के पाटों से मर्दित जन की
चूर्ण पसलियों का संगीत सुनें बहरे बन !
मूर्तिमान दारिद्रय दुःख की नरक धरा पर
क्या ऐसा ऐश्वर्य सुहाता सत् शासक को ?
अच्छा हो, जनश्रम प्रतीक पावन खादी के
वस्त्र छोड़ दें वे, जो गांधी के वल्कल थे !
शासकगण के काले कर्मों को खादी की
शुभ्र छटा भी ढँकने में असमर्थ आज है !

शिक्षा ने पथभ्रष्ट कर दिया नव युवकों को,
कुंठा का दिग्-अंधकार ही उनके सम्मुख !
क्या भविष्य है उनका ? थोथी शिक्षा के वे
बलि पशु बन कर, मनुष्यत्व भी आज खो रहे !
जो शिक्षा धरती की जीवन-वास्तवता से
सम्बन्धित ही न हो, न जन-भू की संस्कृति से,
जिसे प्राप्त कर युवक न अपना घर सँजो सकें
औ' न देश सेवा कर पाएँ—किसे लाभ
उस रिक्त ज्ञान से ? जो वाह्यारोपित अनुकृति भर !

निष्कलंक होता स्वभाव से ही नव यौवन
आज उष्ण शोणित यदि उसका विद्रोही है
तो यह किसका दोष ? प्रकृति यह तरुण रक्त की !

बहकाते हों उनको राजनयिक पद-लोभी,
किन्तु निराशा कुंठा का अथाह सागर जो
उनके हृदयों में अदम्य उद्वेलित अनुक्षण
कैसे उसके शतफण दशन युवक भुला दें ?
शिक्षा-पद्धति निश्चय हमें बदलनी होगी,
जिस शिक्षा से सुख-सुविधा दुह सकें दक्ष-कर,
उसे बना कृषि, प्रविधि, अर्थ, उद्योगपरक अब
हमें राष्ट्र रचना हित अगणित जन, कर-पद, मन
प्रस्तुत करने होंगे, नए रक्त से दीपित !

वृद्ध देश के प्रति अपने दायित्व-बोध से
प्रेरित मैं, उसको फिर नव-यौवन देने को
उत्सुक हूँ नव भू-तरुणों के प्रति आश्वासित,—
वे ही भावी भू-रक्षक, सेवक, शासक भी !
वे विद्रोह करें अनीति से, पर अनुशासन
भंग मत करें, राजनीति के कर-कंदुक बन !
धन विद्रोह विधायक, ऋण विद्रोह विनाशक !
ऐसा शील तपित मन, विनय ग्रथित भू-यौवन
शायद ही हो और कहीं इस विपुल धरा पर !
उसे मात्र भौतिक निर्माण नहीं करना है,
महत् सांस्कृतिक स्वर्ग बसाना बर्बर भू पर !—
यह महान् दायित्व उसे सौंपा है विधि ने !

धिक् उनको, जो सोचा करते भारत केवल
फ्रांस, रूस, अमरीका सा ही भौतिक-वैभव
सैन्य शक्ति सम्पन्न राष्ट्र हो,—अलम् नहीं यह !

हृदय-हीन जग आज भटकता भौतिकता के
अन्धकार में; मानव पशु से भी नृशंस हो
दानव का पर्याय बन रहा अब दिन-प्रतिदिन !
(वियतनाम उस बर्बरता का एक निदर्शन !)
भू-मानस मन्दिर आध्यात्मिक ज्योति के बिना
जीवन घातक अन्धकार में सना रहेगा !

नवयुग सन्धि ! बदलता करवट अब भू-जीवन,
नयी चेतना का युग लाना होगा भू पर
भारत जन को जूझ बाह्य-अन्तर के तम से,
नव-मानव की सित आकृति गढ़, नए मूल्य पर
केन्द्रित कर जगती का जीवन ! अपने इस
दायित्व भार को बिना निभाए, यदि वह केवल
भौतिक स्वर्ग सँजोए भू पर, तो वह निश्चय
कर्तव्यच्युत होगा ! अन्य धरा देशों की
प्राणिक-स्पर्धा का बन लक्ष्य, महाविनाश ही
ढाएगा जग पर,—यह पद्धति द्वन्द्व-जगत् की !

ऐसी कोई धरा-स्वर्ग कल्पना न सम्भव
बाहर से जो पूर्ण, खोखली हो भीतर से,
वंचित अन्तर वैभव से, आत्मिक प्रकाश से !
समतल गति को आरोहण करना अब निश्चय—
नए हृदय का स्पन्दन तुम्हें न सुन पड़ता क्या ?—
जन्म ले रहा जो पंकज-सा भू-कर्दम से !
औंधे मुँह गिर लेटा जो भौतिक भू-जीवन,
उसे जागना अन्तःक्षितिजों का प्रकाश पी !
मानव ही को बनना नव-विकास का वाहक—
विश्व-समस्या का न अन्य हल-समाधान कुछ !

महत् कही सातत्य प्रगति मे क्षिप्र क्रान्ति गति !
सक्षम शासन आज चाहिए भारत-भू को
मध्ययुगो के काले घेरो को कुचले जो
पथ प्रशस्त कर नयी प्रेरणा का यौवन हित,
दिग-भू रचना मे जन-शक्ति करे सयोजित !

अत अतीत तमस से बाहर निकले भारत
खँडहर के पर उगें, उठे प्रासाद अलौकिक
मानव आत्मा के अक्षय स्वर्गिक वैभव का !
पावक का पथ रहा तप प्रिय जन भारत का,
सामूहिक लपटें उठ भस्म करें भू-कल्मप !

कुभकर्ण मे सोए आज हमारे शासक
सुख सपत्ति सुलभ सुविधाओ की शय्या पर
शक्तिमोह, पद मद की स्वप्न-भरी निद्रा मे
अनाचार सन्तापो की गहरी छाया मे !

असतोप फैला दिग् व्यापक अखिल देश मे !
जन को उन्हे जगाना होगा तूर्य नाद कर—
शखघोप मिल कर जन-भू के श्रेयस के हित
मृजन-सगठित करनी होगी शक्ति धरा की,
जो सहार करे अघ का, निर्माण करे नव
जीवन-मगल-शस्य-हरित युग-भू प्रागण का !

ऐसा दिखता नही विरोधी दल मे भी नर
जो भारत जग-भू का बोहित पार लगाए !—
कल यह सम्भव हो यदि, मन स्वागत को तत्पर !

स्वार्थ तृषित शतशः मत-भेदों में खोए नर
राज्य शक्ति कामी,—विजयी हो भू-शासन की
बागडोर यदि आज थाम लें, धरा मृच्छकट
तो क्या अधिक गहन अँधियाले गढ्ढे में गिर
नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा ?—युग-युग के भूखे
नए लोक-प्रभु चूसेंगे जन-गो का शोणित
नए लोभ से, नए वेग से, अमिट तृषा से ?
घोर अराजकता का मंच बनेगी जन-भू ?
अन्धकार के दिग्व्यापी परदे के भीतर
स्वार्थ, लोभ, पद-मोह रचेंगे नव जय भारत ?
शक्ति-दर्प होगा दुखांत नाटक का नायक,
विवश-धरा दर्शक बन हाहाकार करेगी ?—
नहीं, नए शोणित को भी अवसर दें जनगण,
विविध दलों के युग-प्रबुद्ध नर राष्ट्रिय शासन
स्थापित करें धरा पर, जन-मंगल से प्रेरित !
वर्तमान स्थिति निखिल देश की दारुण-भीषण !!

राजनयिक ही नहीं, सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी
जीवन की गति-विधि विघटित होती जाती अब,
मुक्त नहीं साहित्य जगत् भी ह्रास-धुंध से !

महत् प्रयोजन सत्य खो गया हो वाणी का,
आज धुणाक्षर-सी अमूर्त संहृत शैली में
बिम्ब प्रतीक उभरते खग-पग चिह्न-चित्र-से
क्षण की करतल रेती में बन-मिट नगण्य-से !

कथ्यहीन युग-कविता कोरी अलकरण भर,
जिसमे गूढ अहप वेदना करती रोदन
व्यक्ति अहता की, युग स्थितियो से पद मर्दित !
मृगजल छाया-शोभा का प्यासा युग-कवि मन !

राग द्वेष का तुच्छ मच बन रही समीक्षा,
छद्मवेशियो के साथ खडे कुछ चोटी के भी
शुक प्रतिभ विद्वान् बाल की खाल खीचते,
बालो ही की पकड सिद्धि अब चोटी की भी !
आत्मबोध के दिवालिये चुप, तीतर बनकर
चुगी जिन्होंने उगली विद्या,—बात-बात मे
उद्धृत करते ब्रह्म वाक्य मृत, विदेशियो के !
वैसे हो सकता वह सत्य भला, हाइडेगर,
किर्कगार्ड, यास्पर्स, मार्क्स या रसल, वेल्स-से
द्रष्टा जिनके बारे मे कह गए नही कुछ ?
रिक्त काल्पनिक, हाँ, उडान हो सकती मन की !
कवि का कटु आलोचक के पजे मे फँसना
प्रतिभा के पृथु-गज का दलदल मे गिरना है,
जहाँ मात्र दलबन्दी ही का तार्किक कीचड !
मौन सिद्ध आचार्य, हिचकते कहने मे कुछ,
या समझौते की भाषा का आश्रय लेते
कही न कोई उनकी भी पगडी उछाल दे !

भावुकता की भाँग पिए हो देश युगो से—
हीन-ग्रन्थि मे पीडित तथाकथित कुछ बौद्धिक
आज रिक्त विद्रोह भावना से उद्वेलित,
आत्मतोष पाते विद्रोही उद्गारो की
एक दूसरे के सम्मुख फुलझडियाँ बरसा !

जन-भू रचना, महत् राष्ट्र निर्माण कार्य से
पूर्ण अपरिचित, कठपुतलों के सेनानी-से,
रीते दर्प प्रदर्शन से सन्तोष ग्रहण कर
बने अन्ध नेता जो कुंठा-मूढ़ जनों के !

विद्रोही हैं ये युग के, युग के विद्रोही,
जिन्हें न युग-जीवन निर्माण कभी करना है,
असंतुष्ट निज से, जग से, जग के स्रष्टा से
डँसते ये निज को, सबको अस्तित्व-दंश से
उसे मानकर धर्म मनोगत अन्धकार का !
सूँघ गया है इन्हें साँप काली कुंठा का,
बीस गिरोहों में बँट सत्व-निष्ठ ये बौद्धिक
झाग-भरी फूत्कार छोड़ते युग मंचों से !
ये प्रणम्य हैं, युग-पावक से उठने वाले
ये कडुवे, घन धूम, राख, बुझती चिनगारी !

दुर्विपाक या मनोविकृति की आँधी से हो
उच्च पदच्युत व्यक्ति घोर अवसरवादी बन
साहित्यिक नेता अब बने हुए बहुधन्धी,
बुद्धिजीवियों की कुंठाओं की सेना ले !
कला क्षेत्र वाग् युद्ध क्षेत्र में बदल अकारण,
महिला की ले आड़, छोड़ते शर युगधन्वी
आचार्यों पर, खड़े शिखण्डी के हो पीछे !
और प्रार्थना करते, हम जब छोड़ें विष-शर
सीना ताने रहें आप,—तृण लक्ष्य न च्युत हो !

दंतकथा से सम्भव परिचित होंगे पाठक—
एक बार चूहों की मजलिस में अनजाने
भटक गया बेचारा हाथी भोलेपन में !

उसे देख सब चूहे माथा लगे पीटने,
और लाल-पीले हो, दुम पटकारने लगे !
चीख उठे सब, हमको ही खा-खाकर निश्चय
यह चूहा पर्वताकार पा सका कलेवर,—
इसे निकालो, यह हमको भी खा जाएगा,
इसे भगाओ, यह हम सबको खा जाएगा !

हाथी समझ गया चूहों की मर्मव्यथा को,
लौट पड़ा वह ! उनको समझाता भी कैसे
वह मूषक कुल-भूषण नहीं, विनत गजेन्द्र है !—

वैसे यह कुछ नहीं, रिक्त युग का यथार्थ भर,
जिसे महत्व नहीं देता मन—जन रंजन हित
चर्चा कर दी स्वल्प—जियें, भोगें कटु क्षण को !

स्खलित व्यक्ति उठ सकें पुन, हत नीड़ भ्रष्ट खग
स्वप्नों का तृणवास रच सकें, मेरी हार्दिक
शुभ कामना, सहानुभूति अब भी उनके प्रति !

मुझे देख वास्तवता के दर्शन से पीड़ित
बोले तुम, 'संघर्षण जीवन-गति का द्योतक,
पौरुष की दो धार सान पर चढ़ा तथ्य के—
महत् दृष्टि से देखो नव आदर्श की दिशा,
अणुवीक्षण से लघु क्षण के विवरण—यथार्थ को,
दोनों ही अनिवार्य अंग हैं पूर्ण सत्य के,—
एक विकास प्रगति का सूचक और दूसरा
युग स्थितियों का परिचायक—इसमें क्या संशय !

'तुम्हीं नहीं मैं, विश्व सिन्धु भी युग-हिल्लोलित,—
भू जीवन में क्रान्त ज्वार उठता दिग् चुंबी
डुबा विगत तट सीमाएँ, बढ़ता अंबर को
जो अदम्य उत्ताल वेग से—भू-जीवन का
उर-सौन्दर्य बखेर स्वर्ग क्षितिजों में मोहित !
देख रहे ? पर्वताकार मेरी ही महिमा
तृण-तृण के भीतर से लहरा रही विश्व में !'

'तुम्हें अधिक मैं जान सकूँ,' मैंने विनती की,
तुम मुसकाए, बोले, 'कितना जान सकोगे
काल परिधि में ? मुझमें रहो, कहीं श्रेयस्कर
तत्व बोध से ! तुम संयुक्त रहो, जलार्द्रता
जल से जैसे ! शुद्ध प्रेम ही तन्मयता है !
कहाँ खोजते मुझको गीता रामायण में,
वृहद् भागवत तथा महाभारत पन्नों में ?—
जनगण में देखो मुझको, जो जीवित भारत,
जन-भू जीव-पदार्थ—पृथक् मुझसे युग-युग से ! !

आदि काल से गुह्य कुरुक्षेत्रों में कितने
लड़े महाभारत जन ने, पीढ़ी दर पीढ़ी,
मैं जन सारथि रहा, उन्हें बर्बर वन युग से,
मध्ययुगों से लाया अब आधुनिक काल में—
चक्र-मूढ़ जड़ धरा-प्रकृति से जूझ निरन्तर !

'अभी जूझना मुझको निर्मम वर्तमान से,
मानवीय साम्राज्य विश्व में स्थापित करने,—
मैं उस स्वर्णिम मनुष्यत्व की सित क्षमता हूँ,

चिर अजेय, युग के कालिय फण पर अधिरोहित !
राजनीति ही मेरा युग का प्रमुख क्षेत्र है,
जिसको देना मुझे अभी सांस्कृतिक धरातल,
आध्यात्मिक किरणें बखेर जन-भू की रज मे !

'ग्रन्थो के ईश्वर के पूजक अब भारत जन,
जीवित ईश्वर से संपर्क न उनका स्थापित !
सन्त तुम्हे जब कहते स्नेही सहृद—प्रणत हो
तुम उनसे कहना, "भाई, मैं पत ही भला,—
जाने कितने विकृत खोखले आदर्शों की
सन्त-धरोहर मध्ययुगी मन को प्रतीक है !'

देखा मैंने, कहीं नही थी जग की सत्ता,
मात्र तुम्ही थे, अगणित बाल बिन्दु भर थे सब
अश तुम्हारे ! भूत तुम्ही मे परिणत होने
परिवर्तन भोगने, लहरो-से उठ गिर कर !

बोला मन, जीवन की करुणा मे विगलित हो,
अब मुझको विश्वास, सखा हो तुम मनुष्य के,
कौन प्यार दे सकता इतना लघु मानव को !
सुख दुख, विजय पराजय के भीतर से तुम पथ
मुझे दिखाते रहे, झेल जीवन सघर्षण,
मैं क्या विवरण दूँ उसका, जो परम निजी है !
तुमको पाकर सुख दुख विजय पराजय भय भी
मुझको प्रिय अब,—मृत्यु-दश चुम्बन सा सुखप्रद !

तुम मुझमें इतने लय, इतने घुले हृदय में,
अपने को मैं तुम्हे समझने लगता प्राय,
सखे, हृदय मे शुभ्र-उपस्थिति से प्रेरित हो !

तुम हँस देते, बँधकर मुक्त बने रहते नित,
इतने शून्य-अहं, आत्मस्थित, अ-मैं-विद्ध तुम !
ये इन्द्रिय, ये अवयव, निखिल प्रकृति की गति-यति
हो भी किसकी सकतीं ?—मात्र तुम्हारी ! इनके
सब व्यापार तुम्हारे, फल भी तुम्हें समर्पित !

मेरा युग सन्देश नहीं कुछ भू जन के प्रति,
परम सत्य तुम प्रेम, जगत् जीवन के आश्रय,
और जगत् जीवन के आश्रित—क्योंकि प्रेम तुम,
द्वन्द्वों में भी द्वन्द्व-मुक्त, सित अनघ-विद्ध नित !
मनुज-प्रेम में जन तुमको चरितार्थ कर सकें
भव-विकास क्रम में, तुम जगन्निवास अगोचर !—
सित समाज-मानव में विकसित क्षुद्र व्यक्ति हों !
आज तुम्हारी भावी महिमा से उन्मेषित
बौने लगते मुझे व्यक्त सब रूप तुम्हारे !

'तुम भी आवश्यक हो मेरे हित,' तुम बोले,
'प्रेम मुझे कहते तुम, क्या है प्रेम जानते ?
तुम जितने मेरे हो उससे कहीं अभिन्न
तुम्हारा हूँ मैं,—क्योंकि प्रेम हूँ मैं, यह मेरी
निखिल सृष्टि भी मात्र प्रेम ही का प्रतीक है !

प्रेमी जन तुम प्रेम से बँधे,—स्वयं प्रेम मैं,
सब से ही संयुक्त, साथ ही प्रेम-मुक्त भी !
मैं ही हूँ सापेक्ष जगत्, निरपेक्ष सत्य भी,
मेरे जितने भी रूपों से परिचित हो तुम
वे केवल प्रारूप मात्र मेरे अरूप के !

गांधी मुझको अधिक निकट लाया धरती के
निखिल लोक प्रेमी, श्रमजीवी मनुज-सत्य बन !

'मेरी महिमा को भावी मानव में देखो
वर्तमान के मुखर शिखर पर आरोहण कर !
सम्भव, कण के भीतर कभी हिमालय से भी
मुझे विराट् देख पाओ तुम, सूक्ष्म दृष्टि पा,
संशय मत करना मुझ पर—मैं परिमाणों से
बाहर हूँ,—अव्यक्त व्यक्त सब भीतर मेरे !
ध्यान दृष्टि से देखो जड़-चेतन विधान को,
चिद् विभूति भू-रज मेरे अति चेतन वपु की !'

मैंने पूछा, 'हृदय सखा, किस मधुर नाम से
प्राण पुकारें तुम्हें ?' मन्द हँसकर तुम बोले,
'राम नाम से मुझे जानती भारत जन-भू,
तुम भी चाहो वही कहो—मैं नाम रूप से
परे, कृष्ण, ईसा, पैगम्बर, बुद्ध सभी हूँ !

परम, सदाशिव, परा शक्ति भी, परब्रह्म भी,
परमेश्वर, अगजग-स्रष्टा भी !—अपर दृष्टि से
मैं ही हूँ अग जग, लघु तृण कृमि, अमित प्रेम में,
सृष्टि रचाँ सोपान—जीव से देव-श्रेणि तक !'

• • •